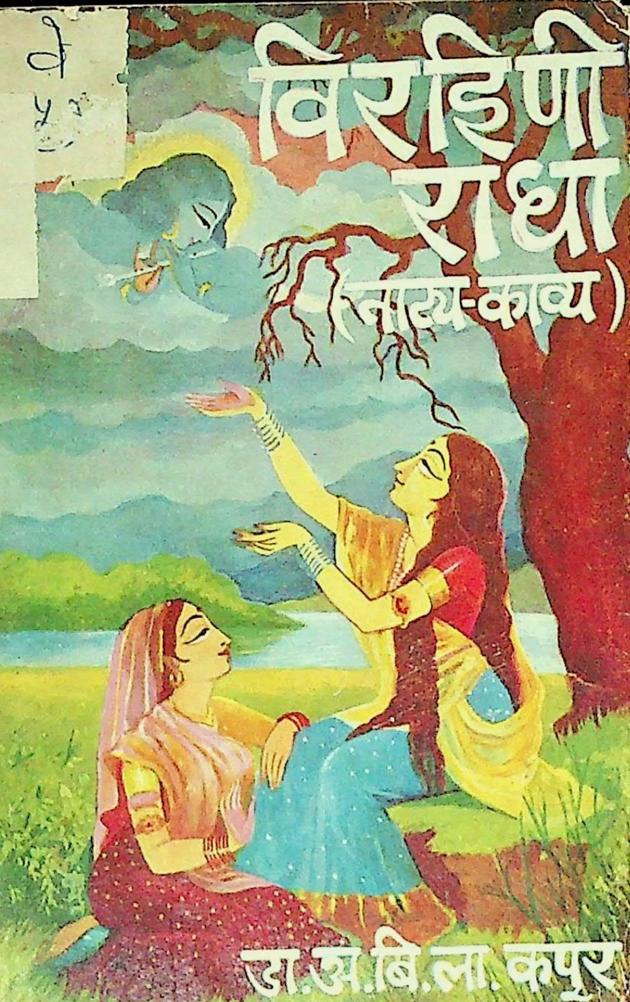
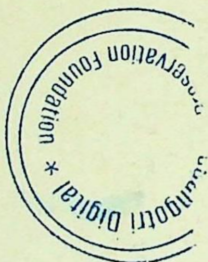

विरहिणी
राधा
(नाट्य-काव्य)
डा. अ. बि. ला. कपूर



विरहिणी राधा

(नाट्य काव्य)

डा० अवध बिहारी लाल कपूर



प्रकाशन विभाग

श्रीकृष्ण - जन्मस्थान - सेवासंस्थान

मथुरा - २८१००१ (उ० प्र०)

४) चार

मूल्य—पाँच रुपये

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।

प्रकाशक	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंस्थान
प्रकाशन-तिथि	शरद पूर्णिमा वि सं० २०३६ ५ अक्टूबर, १९७९
प्रथम संस्करण	२००० प्रतियाँ
मुद्रक	राधा प्रेस, गान्धीनगर, दिल्ली-११००३१

VIRAHINEE RADHA

—Dr. A.B.L. Kapoor

मूल्य—पाँच ४) चार रुपये

अनुक्रमणिका

भूमिका
(७ – ५५)

क्रम-संख्या		पृष्ठ-संख्या

कज्जल बिन्दु

अच्छी बात नहीं है कि कोई आपके शरीर पर कालिख लगा दे ; किंतु बालकके सुन्दर मुख पर उसका कोई भी शुभ-चिन्तक काजलका अटपटा बिन्दु या रेखा बना देता है तो उसका बुरा नहीं माना जाता।

'विरहिणी राधा' जैसी कृति पर मैं कुछ लिख दूं, यह कज्जल बिन्दु लगाने-जैसा प्रयत्न ही है; किंतु अनिच्छापूर्वक अपने अत्यन्त स्नेहियोंके आग्रहसे मुझे यह करना पड़ा है। इसमें मेरी हार्दिक शुभेषिता है, आप यह स्वीकार कर लेंगे तो यह दूषण भी भूषण बन जायगा।

श्रीकृष्णचन्द्र रसराज हैं और श्रीराधा मूर्त्तिमती महाभाव। प्राणिमात्र रस—आनन्दका आकांक्षी है। जीवोंको रस-प्राप्तिकी पद्धतिका दर्शन करानेके लिए ही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका आविर्भाव है।

लेकिन भावके बिना तो रस नहीं—रसकी स्थिति ही नहीं। अतः रसराजका आविर्भाव सफल ही है महाभावरूपा श्रीनिकुञ्जेश्वरीके कारण। उनकी कृपा लेश मिले तो जीव मृग-मरीचिकामें भटकनेसे विरमित होकर श्रीकृष्णप्रेमके वास्तविक रसके उन्मुख हो।

जहाँ तक मेरी बात है, श्रीकृष्णके दास्य, सख्य, वात्सल्यकी तो किञ्चित् छायाकी कल्पना किसी प्रकार कर पाता हूँ ; किंतु गोपी-प्रेमकी बात भी सोचना अपने बूतेका नहीं लगता। तब श्रीकीर्त्तिकुमारीके प्रेमकी बात—सच तो यह है कि उनका प्रेम ही मानव-कल्पनासे परे है।

अवश्य ही उनके प्रेमकी जो भी कल्पना मानव मनमें आती है, उनकी अकारण अनुकम्पासे ही आती है और जिस अन्तरमें आती है, उसे परमोज्ज्वल, परमधन्य बना देती है। भले वह उस दिव्य प्रेमसे बहुत दूरकी ही कल्पना हो।

बंगलामें श्रीकृष्णकमल गोस्वामी उस दिव्य प्रेमके गायक हैं। ऐसे गायक हैं जो उन निकुञ्जेश्वरीके निकुञ्जके ही भ्रमर लगते हैं। उनके गीति-काव्योंमें भी 'राइ उन्मादिनी' सर्वश्रेष्ठ है। इतना मधुर—इतना सुरभित कि इस काव्यकी सुरभिने पाश्चात्य जगत्को भी विभोर बनाया। अनेक भाषाओंमें उसके अनुवाद हुए हैं।

'विरहिणी राधा'का आधार वह 'राइ उन्मादिनी' है। लेकिन यह छायानुवाद है—स्वतन्त्र काव्य कहना ही इसे ठीक है। श्रीअवध बिहारी लाल कपूरने रसमय हृदय पाया है। उनका यह काव्य 'राइ उन्मादिनी' के रसका अच्छा आभास देता है और भक्त-हृदयको भाव-सागरमें निमज्जित करता है।

सामान्य जीवमें अनुराग प्रकट हो, यह उसका अहोभाग्य। यह उसपर रसिकशेखर श्रीकृष्णकी असीम

अनुकम्पा। लेकिन अनुराग तो रागके आलम्बनके बिना प्रकट नहीं होगा। हृदयका दर्पण शुद्ध हो, तब भी उसके सम्मुख दिव्यराग आये बिना उसमें अनुरागकी लालिमा कहाँसे आवेगी ?

'विरहिणी राधा' श्रीराधाके दिव्यरागका वर्णन है, बहुत ललित, बहुत हृदयग्राही और भावुक हृदयको द्रवित करनेवाला वर्णन।

'एको रसः करुण एव'—भवभूति।

रस तो एक ही है—करुण। हृदयको द्रवित करनेकी शक्ति उसीमें है। 'विरहिणी राधा' करुण काव्यका उत्कृष्टतम स्वरूप है। इस आलम्बनसे द्रवित हृदयमें श्रीकृष्णका अनुराग प्रकट होगा, ऐसी सम्यक् आशा है।

यद्यपि प्रेमको दर्शन-विवेचनकी अपेक्षा नहीं होती। विवेचन आचार्योंका काम है। मृग सङ्गीतपर मुग्ध होता है; किंतु क्या उसे राग-रागिनियोंका पता होता है ? भ्रमर पुष्प-लुब्ध होता है, भले सुरभिके शास्त्रीय विवेचन का उसे पता न हो। गोपियाँ और श्रीराधामें प्रेम नहीं है—वे प्रेम ही हैं। प्रेमकी घनीभूत मूर्त्तियाँ। उनको प्रेमके शास्त्रीय विवेचनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

यहीं यह भी सत्य है कि सङ्गीत शास्त्र व्यर्थ नहीं है। इत्रोंकी सुरभिके भी भेदोपभेदका शास्त्र है। ऐसे ही प्रेमकी विभिन्न स्थितियोंका विवेचन महापुरुषोंने किया है। भक्तिशास्त्रका यह विस्तार व्यर्थ नहीं है। तर्क

कर्कश मस्तिष्कको मनाये बिना वह हृदयके प्रवाहमें रोड़े अटकाना बन्द नहीं किया करता और सामान्य व्यक्तिका मस्तिष्क अनेक तर्कोंके व्यामोहमें न पड़ा हो, ऐसा संयोग कदाचित् ही होता है।

प्रेमकी विभिन्न अवस्थाओंका विवेचन एक काम और करता है—दिव्य प्रेमकी उच्चतम अवस्थाको बुद्धिके लिए सुबोध बनाकर उन अवस्थाओं पर आस्था उत्पन्न करता है। आस्था होनेपर स्पृहा होती है और तब अनुरागका आविर्भाव सम्भव बनता है।

'विरहिणी राधा' की भूमिकामें इस काव्यके कवि श्रीअवध बिहारी लाल कपूरने प्रेमकी विभिन्न स्थितियों-का शास्त्रीय विवेचन बहुत सरल, सुबोध, संक्षिप्त देकर पुस्तकको अत्यधिक उपयोगी बना दिया है।

'विरहिणी राधा' का यह मर्मस्पर्शी काव्य आपके सबके हृदयको द्रवित करके उसके दिव्य रसकी ललित मधुर ज्योति जागृत करे, इस शुभाशाके साथ—

सुदर्शन सिंह 'चक्र'
२३-५-१९७९

सम्पादक— 'श्रीकृष्ण-सन्देश',
श्रीकृष्ण जन्मस्थान,
मथुरा–२८१००१

दो शब्द

बंगला साहित्यमें चण्डीदास और विद्यापतिके पश्चात् श्रीकृष्णकमल गोस्वामीका सर्वश्रेष्ठ पदकर्त्ताके रूपमें आदर किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दीमें वैष्णव-गीति साहित्यके पुनरुत्थानमें उनका सबसे बड़ा योगदान है। पश्चिम देशोंके लोग भी जर्मन और फ्रेंच भाषाओंमें उनकी कृतियोंके अनुवादके माध्यमसे उनसे भली भाँति परिचित हैं।

उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है उनका प्रेम-काव्य 'राइ उन्मादिनी' या 'दिव्योन्माद।' इसमें राधाके कृष्ण-प्रेम-का, विशेषरूपसे कृष्णके विरहमें उनकी दिव्योन्मादकी अवस्थाका मर्मस्पर्शी चित्रण है। मैंने कई वर्ष पूर्व इस ग्रन्थको देखा था। तभी इसका हिन्दी रूपान्तर करनेका लोभ जागा था। पर दो कारणोंसे यह विचार छोड़ देना पड़ा था। एक तो ग्रन्थका विषय ही मुझ जैसे प्रेमहीन व्यक्तिके लिए कठिन था। दूसरे इसका सरस हिन्दी रूपान्तर काव्यमें ही सम्भव था, जो मेरी लेखनीके लिए एक नया प्रयास होता।

इन कठिनाइयोंके होते हुए भी मैंने जो अब यह प्रयास किया है, इसका कारण मैं स्वयं नहीं समझ पा

रहा हूँ। कारण कुछ मित्रोंका विशेष आग्रह हो सकता है, या किसी भगवदीय शक्ति की प्रेरणा।

परन्तु यह 'राइ (राधा) उन्मादिनी' का अविकल अनुवाद नहीं है। इसमें कई नये प्रसङ्ग जोड़ दिये गये हैं, जैसे चन्द्रा दूतीके मथुरासे लौटनेके पश्चात् राधाकी उत्कण्ठाकी चरम स्थितिका वर्णन, राधाके विरहके वास्तविक रहस्यके सम्बन्धमें देवी पौर्णमासी और वृन्दा-का संलाप, माथुर विरहके पश्चात् श्रीकृष्ण और राधा-के मिलनके समय दोनोंकी अवस्थाका सखियों द्वारा वर्णन, श्रीकृष्णके प्रति सखियोंकी मधुर व्यंग्योक्तियाँ इत्यादि। कुछ अंश निकाल भी दिये गये हैं और कुछमें भाव-व्यंजना नये ढङ्गसे की गयी है। परिणाम-स्वरूप इस ग्रन्थने एक नयी रचनाका रूप धारण कर लिया है, जिसका आधार मात्र 'राइ उन्मादिनी' है।

अवधबिहारीलाल कपूर

१८३, राधारमण मार्ग
वृन्दावन, ११-४-७६

भूमिका

राधा-कृष्णका तत्त्व

आनन्द-ब्रह्म और रस ब्रह्म

ब्रह्म ही आनन्द है। आनन्द-स्वरूप ब्रह्मसे ही सब जीवोंकी उत्पत्ति है। आनन्दके द्वारा ही वे जीवन धारण करते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं। पर जिस आनन्दको लेकर सांसारिक जीव जीवन धारण करते हैं, वह उस आनन्दका एक कण या आभास मात्र है–

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'
(बृ. आ. उ. ४।३।३२)

जिस आनन्द-ब्रह्मके एक अंश या आभास मात्रसे जगत् विमुग्ध है उसका पूर्ण और विशुद्धरूप तथा उसका मूल है रस-ब्रह्म। रस है आनन्दका घनीभूत भाव, आनन्द है रसका निर्विशेष भाव। रस स्वरूप ब्रह्म सविशेष और सशक्तिक है। निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म सविशेष रसका प्रकाश है, उसी प्रकार जिस प्रकार अमूर्त गन्ध मूर्त धूप-का प्रकाश है या निर्विशेष चाँदनी सविशेष चन्द्रमाका प्रकाश है। इसीलिये श्रीकृष्णने इसे आनन्द-रूप निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा कहा है—'**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्।**' जो केवल ह्लादात्मा अर्थात् केवल आनन्द-रूप है, वह है निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म। पर जो आनन्द-स्वरूप होते हुए

भी आनन्दका आस्वादन करते हैं और कराते हैं, वे हैं आनन्द-ब्रह्मकी प्रतिष्ठा-स्वरूप पूर्ण रस-ब्रह्म या रसका मूर्त स्वरूप, रसराज श्रीकृष्ण।

रस स्वरूप-ब्रह्म स्वयं रस है और रसका आस्वादक या रसिक भी। निर्विशेष ब्रह्म रसरूप है, पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें शक्तिका विकास नहीं है। परमात्मा भी रसरूप है, पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें भी शक्ति का आँशिक विकास ही है और वह साक्षी या द्रष्टा-मात्र है। राम, नृसिंहादि जितने भी भगवत्-स्वरूप हैं, उनमें शक्तिका विभिन्न रूपसे विकास है, इसलिये वे सभी रसिक हैं। पर सभी भगवत्-स्वरूपोंमें सभी रसोंका एक साथ विकास नहीं है, जैसा श्रीकृष्णमें है। इसलिये केवल श्रीकृष्ण ही हैं अखिल-रसामृत-मूर्त्ति या रसिकशेखर।

रस-ब्रह्म और ह्लादिनी शक्ति

जिस आनन्दिनी शक्ति द्वारा भगवान निज स्वरूपानन्दका आस्वादन करते हैं और भक्तोंको कराते हैं, उसका नाम है ह्लादिनी शक्ति। ह्लादिनी शक्ति ही है आनन्दकी विभिन्न धाराओंका मूल। ह्लादिनी शक्ति ही है श्रीकृष्णके नित्य रास-विलासका एकमात्र कारण। ह्लादिनी शक्ति ही प्रकाशित है भगवान्‌में भगवतानन्दरूपमें, जीवमें, जैवानन्दरूपमें और विश्वमें प्राकृत आनन्दके रूपमें। गोमुखीसे निकली शैल प्रवाहिनी गङ्गा जिस प्रकार स्वच्छ, सुनिर्मल और समुज्जवल होते हुए भी भूखंडमें आकर वहाँकी

मिट्टीके सम्मिश्रणसे मटमैली हो जाती है, उसी प्रकार ह्लादिनी शक्तिकी स्वच्छ, समुज्जवल, शाश्वत आनन्द-धारा प्राकृत प्रदेशमें उतरते ही त्रिगुणात्मिका मायाके संस्पर्शसे कुत्सित और क्षणभंगुर प्राकृत आनन्दका रूप धारण कर लेती है।

ह्लादिनीकी आनन्दधारा चिन्मयधाम विरजा या कार्णार्णव तक स्वच्छ और सुनिर्मल रहती है। गोलोकसे वैकुण्ठ तक वह सविशेष और सक्रिय रूपमें प्रवाहित होती है और उसके नीचे सिद्धलोक या महेशधाम तक निर्विशेष और निष्क्रिय रूपमें। उसके भी नीचे विरजाके पार देवीधाम या प्राकृत जगत्में वह दुःख मिश्रित, क्षणभंगुर प्राकृत, आनन्दके रूपमें प्रवाहित होती है। यह प्राकृत आनन्द काया-स्थानीय अप्राकृत आनन्दकी छाया मात्र है। पर छाया होते हुए भी यह प्राकृत आनन्दसे सर्वथा भिन्न नहीं है। यह उसका आभास मात्र है। यह अल्प, परिच्छिन्न, क्षणिक और माया-मिश्रित होनेके कारण दुःखमय है, जबकि अप्राकृत आनन्द भूमा, स्थायी, अमायिक और विशुद्ध सुखमय है।

रसका मूर्त्त-स्वरूप हैं रसराज श्रीकृष्ण ; ह्लादिनीका मूर्त्त-स्वरूप हैं श्रीमती राधिका। सृष्टिके मूलमें यदि ह्लादिनीके रूपमें रसका उत्स और श्रीकृष्णका रास-विलास न होता, या क्षण भरके लिये भी किसी प्रकार उसका विच्छेद घटता, तो न तो आनन्द-ब्रह्मकी सत्ता सम्भव होती, न किसी प्रकारका प्राकृत आनन्द ही सम्भव

होता। जिस प्रकार काया के अभाव में छाया लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार संसार और संसार के सभी सुख, जो परमानन्दकी छाया या उसके आभास मात्र पर अवलम्बित हैं, एक मुहूर्तमें विलीन हो जाते।

श्रीकृष्ण हैं पूर्ण शक्तिमान ; राधा हैं पूर्ण शक्ति। पूण शक्ति पूर्ण शक्तिमान्में अमूर्त और अभिन्न रूपसे नित्य वर्त्तमान हैं। पर लीलाके हेतु शक्तिकी अधिष्ठात्रीके रूपमें भिन्न और मूर्त रूपसे प्रकट रहकर भी अनन्त, अचिन्त्य लीलाओंका सम्पादन कर शक्तिमान्को आनन्दित करती हैं। अमूर्त और निष्क्रिय ह्लादिनी शक्ति द्वारा आलिंगित श्रीकृष्ण केवल 'ह्लादात्मा' या आनन्दरूप है ; समूर्त ह्लादिनी शक्ति द्वारा आलिंगित श्रीकृष्ण आनन्द रूप तो हैं ही, आनन्दके आस्वादक और वितरक भी हैं। मूर्त्त ह्लादिनी शक्ति द्वार आलिङ्गित श्रीकृष्ण ही आनन्द और माधुर्यकी चरम सीमाको प्राप्त हैं।

रसका विषय और आश्रय

श्रीकृष्ण हैं रसका मूल विषय, राधा हैं इसका मूल आश्रय। जिस प्रकार अवतारी श्रीकृष्णमें सभी अवतार सम्मिलित हैं, उसी प्रकार कृष्ण-तृष्णा के सभी प्रकार अपनी चरम सीमा को प्राप्त होकर राधामें सम्मिलित हैं। जिस प्रकार रसराज श्रीकृष्ण समस्त प्रकारके रसोंके आधार हैं, उसी प्रकार महाभाव स्वरूपिणी राधा समस्त प्रकारके भक्ति भावोंकी आधार हैं। अमूर्त रूपमें वे ही

दास्य सख्यादि विभिन्न प्रकारके भावोंमें प्रकट होकर भक्तोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके रसोंका आस्वादन कराती हैं। मूर्त्त रूपमें वे अपनी ही काय-व्यूहरूपा सखी-मंजरियोंके रूपमें प्रकट होकर नाना प्रकारकी मधुर लीलाओं द्वारा श्रीकृष्णको रसास्वादन कराती हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भी उस रसास्वादनके लिये लालायित रहते हैं। अनन्त-स्वरूप, आत्मकाम, आत्माराम होते हुए भी वे व्रज-सुन्दरियोंके साथ रास-विलासादिका सङ्कल्प करनेके लिये सदा बाध्य हैं।

रस और भाव

रसका भावसे अनिवार्य सम्बन्ध है। भाव बिना रस नहीं, रस बिना भाव नहीं—

न भाव हीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥

(नाट्य शास्त्र)

आनन्दका विषय उपस्थित रहनेपर भी भावकी अनुपस्थितिमें उससे आनन्दकी उपलब्धि सम्भव नहीं है। रत्नकी पेटिका पास रहनेपर भी, जिस प्रकार उसकी चाबीके बिना रत्नोंका उपयोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आनन्दका विषय पास होनेपर भी भावरूपी चाबीके अभावमें उसके आनन्दका उपभोग नहीं हो सकता। आनन्दके आश्रयसे जब भाव उच्छ्वसित होकर विषयसे संयुक्त होता है, तभी विषय रसताको प्राप्त

होकर आश्रयको आनन्दित करता है। भाव या प्रियताकी भिन्नताके कारण ही एक ही विषयसे विभिन्न प्रकारके आनन्दकी उपलब्धि होती है। जिस जातिका भाव होता है, वह उसी जातिके विषयसे संयुक्त होकर उसमें उसी जातिकी रसता उत्पन्न करता है और उसे उसी जातिके आनन्दका विषय बनाता है। एक जातिका भाव दूसरी जातिके विषयको रसता प्रदान नहीं कर सकता। शूकर-का जिस जातिका भाव या रुचि है, वह उसी जातिके विषयसे सुख-लाभ करता है और मनुष्यका जिस जातिका भाव या रुचि है, वह उसी प्रकारके विषयसे आनन्द-लाभ करता है।

जिस प्रकार सङ्गीत-प्रेम या सङ्गीत-भक्ति द्वारा सङ्गीत रसताको प्राप्त होता है, नृत्य-भक्ति द्वारा नृत्य रसताको प्राप्त होकर नृत्य-भक्तको आनन्दित करता है, काव्य-भक्ति द्वारा काव्य रसताको प्राप्त होकर कविता-प्रेमीको आनन्दित करता है, उसी प्रकार भगवद्भक्ति द्वारा रसताको प्राप्त होकर भगवान् भक्तको आनन्दित करते हैं। इसलिए भगवान्ने स्वयं कहा है—'भक्त्याहमे-कया ग्राह्यः (श्रीमद्० भा० ११.१४.२१)—मैं एकमात्र भक्तिसे ग्राह्य हूँ, अन्य किसी प्रकारसे मेरा अनुभव सम्भव नहीं है।'

इसीलिए भगवान् रसके मूल स्रोतके रूपमें भाव और भक्तिके मूल स्रोतसे सदा आलिङ्गित हैं, परिरम्भित हैं। रसका मूल और उसकी घनीभूत मूर्त्ति हैं श्रीकृष्ण, भावका मूल और उसकी घनीभूत मूर्त्ति हैं श्रीराधा।

रसकी मर्यादा होती है रसकी तृष्णासे। जलकी जितनी तृष्णा होती है, उतना ही जल पेय और आस्वाद्य होता है। इसी प्रकार रसकी जितनी तृष्णा होती है, उतना ही रस आनन्ददायक होता है। रसकी तृष्णाके तारतम्यसे ही है रसके आस्वादन का तारतम्य। रस तृष्णाकी चरम अवस्था है राधाका कृष्ण-प्रेम। रस-तृष्णा अपनी चरम अवस्थामें घनीभूत होकर एक रूप परिग्रह करती है। वह रूप ही है राधाका अपना रूप।

भगवत्-प्रीति

प्रीतिका सार-अंश है प्रियकी निःस्वार्थ सेवा। इसलिये प्रीतिको सेवा कहते हैं और प्रीतिमें जिस सुखका अनुभव होता है उसे सेवा-सुख कहते हैं। भगवत्-प्रीति, जिसका लक्ष्य भगवान्‌की सेवा हैं, भगवान्‌की ह्लादिनी-प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी ही वृत्ति है, जिसे वे भक्तके हृदयमें निक्षिप्त करते हैं। विषय-प्रीति माया-शक्तिकी वृत्ति है, जो भक्तके हृदयमें ही उत्पन्न होती है। भगवत्-प्रीति स्वरूप-शक्तिके समान अप्राकृत या निर्गुण है ; विषय-प्रीति मायिक गुणोंसे उत्पन्न होनेके कारण प्राकृत या गुणमय है। इसलिये भगवत्-प्रीतिका सुख अप्राकृत और नित्य है ; विषय-प्रीतिका सुख प्राकृत और क्षणिक है।

भगवत्-प्रीतिका सुख भगवानके स्वरूपगत-सुख (स्वरूपानन्द या ब्रह्मानन्द) से भी श्रेष्ठ है। इसलिये

स्वयं उन्हें भी इसका लोभ रहता है। इसके कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) **चित्तद्रवता**—जब साधकके चित्तमें भक्तिका आविर्भाव होता है, तब उसके हृदयमें भगवद्दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत होती है। उत्कण्ठारूप अग्निसे चित्तरूपी स्वर्ण द्रवित होता है। उस समय साधकके शरीरमें अश्रु, कम्प पुलकादि सात्त्विक विकार दृष्टि गोचर होते हैं। वह कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी नाचता है, कभी गाता है। उसे किसी प्रकार की लोकापेक्षा नहीं रहती।

(२) **चित्त-शुद्धि**—चित्त द्रवित होनेसे पुलक (रोमहर्ष) होता है और आनन्दाश्रुका विसर्जन होता है। आनन्दाश्रुके विसर्जनसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्तकी शुद्धिका दूसरा कोई उपाय नहीं है, ऐसा स्वयं श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा है—

'कथं बिना रोमहर्षं द्रवता चेतसा बिना।
बिनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
श्रीमद्भागवत ११।१४।२३

चित्त-शुद्धि भक्ति या प्रीतिका एक विशेष लक्षण है। यदि चित्त थोड़ा-बहुत द्रवित हो और पुलकादि भक्तिके चिह्न भी दीख पड़ें, पर चित्त शुद्ध न हो, तो समझना चाहिये कि प्रीतिका सम्यक् आविर्भाव नहीं हुआ है।

(३) **सर्वगुणनिधानत्व**—भगवत्-प्रीति सभी सद्-गुणोंका एकमात्र आश्रय है। जिसके हृदयमें भगवत्-प्रीति

होती है, उसमें सभी सद्गुणोंका स्वाभाविक समावेश होता है। (श्रीमद्भागवत ५।१८।१२)।

(४) **भगवत्-प्रीति व्यतीत अन्य तात्पर्यहीनता**—चित्त सम्यक् रूपसे शुद्ध हो जाने पर उसमें जीवकी स्वरूपानुबन्धिनी भगवत्-सेवाकी वासनाके अतिरिक्त और कोई वासना नहीं रह सकती। यदि साधकके चित्तमें अन्य कोई वासना रहे तो समझना चाहिए कि प्रीतिका सम्यक् आविर्भाव नहीं हुआ है।

(५) **अनिर्वचनीय माधुर्य**—भागवती प्रीति ह्लादिनी की वृत्ति होनेके कारण स्वतः अपूर्व स्वादमयी और परम-मधुरा है। यह आनन्दकी पराकाष्ठा है। अशेष पुरुषार्थरूप सम्पत्ति इसकी दासीके समान है—'दासी कृताशेष पुरुषार्थ सम्पत्तिका।' (प्रीति सन्दर्भ, ७८)

भगवत्-प्रीतिके विभिन्न स्तर

प्रीतिका प्रथम आविर्भाव या 'प्रीत्याङ्कुर' है रति। रति गाढ़ताको प्राप्त कर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव या महाभावकी[1] अवस्थाको प्राप्त होती है, वैसे ही जैसे गन्नेका बीज क्रमशः गन्ना, रस, गुड़, खाँड़, शक्कर, चीनी, मिसरी और उत्तम मिसरीका

---

१. श्रीरूपगोस्वामीने भाव और महाभावको अभिन्न माना है।

रूप धारण करता है।[१] भगवत्-प्रीतिकी चरम अवस्था महाभाव केवल व्रज-सुन्दरियोंमें होती है। महाभावकी चरमतम परिणति है मादनाख्य महाभाव जो भगवत्-प्रीतिकी घनीभूत मूर्त्ति स्वयं राधारानीका भाव है और केवल उन्हींमें सम्भव है। मादन 'सर्वभावोद्गमोल्लासी'[२] है। 'सर्वभावोद्गमोल्लासी' का अर्थ यह है कि जब मादनका आविर्भाव होता है, तब मादनके अन्तर्भुक्त रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय आदि उसके ऊपरके जितने भी भगवत्-प्रीतिके स्तर हैं सभी उल्लासमय हो उठते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भूत होने पर उनके अन्तरभुक्त सभी भगवत्-स्वरूप आविर्भूत हो अपनी-अपनी महिमाका विस्तार करते हैं। इसलिए श्रीराधाके मादनाख्य महाभावको **स्वयं-प्रेम** भी कहते हैं। श्रीराधाके कृष्ण-प्रेममें प्रेमके सभी स्तरोंके परिपूर्ण रूपमें सम्मिलित होनेके कारण उनके भावको भली प्रकार समझनेके लिए प्रेमके विभिन्न स्तरोंका ज्ञान होना आवश्यक है। यहाँ विस्तारसे उन स्तरोंका वर्णन करना सम्भव नहीं है। हम संक्षेपमें उनका वर्णन करनेके पश्चात् महाभावका कुछ विस्तारसे वर्णन करेंगे।

---

१. साधन-भक्ति हैते हय रतिर उदय।
रति गाढ हैले तार 'प्रेम' नाम कय॥
प्रेम वृद्धि क्रमे नाम—स्नेह, मान प्रणय।
राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय॥
चै. च., म. १९, १५१, १५२

२. सर्वभावोद्गमोल्लासी-मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥
—उ० नी० स्थायी २१९

रति

रति या भाव है शुद्ध सत्वरूपा भगवान्की स्वरूप शक्तिकी ह्लादिनी और संवित् वृत्तियोंका सार। ह्लादिनीका सार होनेके कारण रति आनन्द रूपा है और संवितका सार होनेके कारण यह भगवान्को प्रकाशित करती है, उनका ज्ञान या अनुभव कराती है। इसमें ह्लादिनीकी प्रधानता है, इसलिये इसे ह्लादिनी प्रधाना स्वरूप-शक्तिकी वृत्ति कहते हैं। ह्लादिनीकी वृत्ति होनेके कारण यह नित्य-सिद्ध वस्तु है, जो साधनके फल-स्वरूप भक्तके हृदयमें उदित होती है। यह प्रेमरूपी सूर्यकी किरण है। सूर्यके उदय होनेके पूर्व जिस प्रकार उसकी किरणोंका विस्तार होता है और किरणोंका विस्तार होते ही जान लिया जाता है कि सूर्य उदय होने वाला है, उसी प्रकार यह प्रेमकी प्रथम अवस्था है—साधकके हृदयमें आविर्भूत होनेवाले प्रेमका पूर्वाभास।

जिस साधकमें रतिका उदय हो जाता है, उसे जात-रति भक्त कहते हैं। जातरति भक्तके लक्षण श्रीरूप गोस्वामीने इस प्रकार बताये हैं—

क्षान्ति—क्षोभका कारण उपस्थित होने पर भी चित्तके क्षुब्ध न होनेको कहते हैं क्षान्ति। [1]जिसमें रतिका उदय होता है उसका चित्त शत-शत विपदाओंके आने-पर भी विचलित नहीं होता।

---

१. एइ नव प्रीत्यङ्कुर जार चित्ते हय।
प्राकृत-क्षोभे तार क्षोभ नाहि हय।।
—चै. च. म. २३,११

मान शून्यता—मान शून्यताका अर्थ है सर्वोत्तम होते हुए भी अपनेको हीन और सम्मानके अयोग्य जानना।

आशाबन्ध—भगवत्-प्रीतिकी दृढ़ संभावनाको आशा-बन्ध कहते हैं।[1] जातरति साधक अपनेको हीन और अयोग्य जानते हुए भी दृढ़ विश्वास रखता है कि प्रभु अपने करुण स्वभावके कारण उसपर कृपा अवश्य करेंगे।

समुत्कण्ठा—जातरति भक्तमें अपने अभीष्टकी प्राप्तिका गुरुतर लोभ होता है, जिसे समुत्कण्ठा कहते हैं।[2]

नाम-गान में सदा रुचि—जातरति भक्तकी नाम-कीर्तनमें विशेष रुचि होती है। वह सभी अवस्थाओं में आनन्दका उपभोग करता है।

भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति—श्रीकृष्णके माधुर्यादि गुणोंके वर्णनमें भी जातरति भक्तकी आसक्ति होती है।-

भगवद्वसति स्थलमें प्रीति—भगवान्के लीला स्थलके दर्शनकी, उसकी महिमाका श्रवण और कीर्तन करनेके तथा उसमें वास करनेकी उसमें सदा उत्कण्ठा रहती है।

रति भगवती-प्रीतिकी तरल अवस्था है। इसमें अपराधके कारण उत्पन्न अनर्थोंकी प्रायकी निवृत्ति होती

---

१. आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसम्भावना दृढ़ा ॥
(भक्तिरसामृत सिन्धु, पुरीदास संस्करण १।३।१६)

२. समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता ॥
(भक्तिरसामृत सिन्धु, पुरीदास संस्करण, १।३।२०)

है, पूर्ण निवृत्त नहीं होती।[1] जातरति भक्तकी जीवन-मुक्त अवस्था होती है। उसके प्रारब्ध व्यतीत और सब कर्म ध्वंस हो जाते हैं। प्रारब्ध भी उसमें भुने हुए धानके समान या दाँत निकाले साँपके समान रहता है, जो कोई फल या प्रभाव उसके ऊपर विस्तार करनेकी स्थितिमें नहीं होता। ऐसे प्रारब्धके फलस्वरूप जातरति भक्तमें जो दुराचार होता है, वह उसकी गुणमयी इन्द्रियों द्वारा ही होता है; वह स्वयं उसमें न लिप्त होता है न उसमें उस प्रकारके कर्मकी प्रवृत्ति होती है।

प्रेम

भाव या रति जब गाढ़ता प्राप्त करती है और उसके फलस्वरूप चित्त सम्यक् रूपसे द्रवित और भगवत्-चरणोंमें अतिशय ममतासम्पन्न होता है, तो उसे प्रेम कहते हैं।[2] प्रेम लक्षणा भक्तिमें ममताकी प्रधानताके कारण ही नारद पञ्चरात्रमें 'अनन्य ममता विष्णौ' इत्यादि श्लोकमें अन्य विषयोंमें ममता-रहित श्रीकृष्ण-प्रेम-संप्लूता ममता को ही भक्ति कहा है।

प्रेम सदा श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यमय होता है। उसमें स्वसुख-वासनाका नितान्त अभाव होता है। इसलिये

---

१. आत्यन्तिकी निवृत्ति श्रीकृष्ण-चरण लाभ होने पर होती है।

२. सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमाभिधीयते॥
—भ० र० सिं० १.४०१

ध्वंस होनेका कारण उपस्थित रहनेपर भी उसका ध्वंस नहीं होता।[१] चन्द्रावली जानती हैं कि राधाके प्रति श्रीकृष्ण अत्यधिक अनुरागवान हैं और श्रीकृष्ण जानते हैं कि राधा चन्द्रावलीसे रूप-गुण और वैदग्ध्यादिमें शतगुणा श्रेष्ठ हैं, फिर भी दोनोंके प्रेम-बन्धनमें शिथिलता नहीं आती।

स्नेह

साधकके यथावस्थित देहमें प्रेमसे ऊपरके स्तर स्नेह-मान-प्रणयादिका आविर्भाव सम्भव नहीं है। रागानुगा साधनका जात-प्रेम भक्त जब भौतिक देह त्यागकर ब्रह्मांडमें प्रकटित श्रीकृष्णके प्रकट-लीला-स्थानमें चिन्मय देहसे जन्म ग्रहण करता है, तब वह अपने भावानुकूल श्रीकृष्णके नित्यसिद्ध परिकरोंका सङ्ग करता है और उनके मुखसे श्रीकृष्ण-कथादि सुनता है, जिसके फल-स्वरूप उसका प्रेम स्नेह-मानादिके स्तरोंपर उन्नीत होता है।

प्रेम जब गाढ़ताको प्राप्तकर हृदयको और अधिक द्रवित करता है और श्रीकृष्णकी उपलब्धि और अधिक उज्वल रूपमें कराता है, तो उसे स्नेह कहते हैं।[२] स्नेहमें

---

१. सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥
—उज्ज्वल नीलमणि, स्थायि ६३

२. आरुह्य परमां काष्ठां प्रेमाचिद्दीपदीपनः।
हृदयं द्रावयन्नेष स्नेह इत्यभिधीयते॥
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥
—उ० नी० स्थायि, ७९

कृष्ण-दर्शनसे तृप्ति नहीं होती। दर्शनकी पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

स्नेहके दो भेद हैं—घृत-स्नेह और मधु-स्नेह। घृत-स्नेह तदीयता भावमय है, मधु स्नेह मदीयता भावमय है। चन्द्रावलीका स्नेह घृत-स्नेह है, राधाका मधु-स्नेह है। चन्द्रावलीका भाव है—'मैं श्रीकृष्णकी हूँ', राधाका भाव है—'श्रीकृष्ण मेरे हैं।' घृत-स्नेहमें यत् किंचित् मदीयता-मय भाव रहता है, पर वह तदीयतामय भावकी प्रधानताके कारण उससे आवृत रहता है ; मधु-स्नेहमें यत्किंचित् तदीयतामय भाव वर्तमान रहता है, पर वह मदीयतामय भावकी प्रधानताके कारण उससे आवृत रहता है। तदीयतामय भाव आदरमय है। चन्द्रावली श्रीकृष्णके प्रति अपनी गौरव-बुद्धिके कारण उनके बगल-में जानेमें सङ्कोच करती है और उनके अङ्गसे अपना पाद-स्पर्श होनेसे भीत होती हैं। पर मदीयतामय भावमें इस प्रकारकी गौरव-बुद्धि के लिये स्थान नहीं है। इसलिये राधाको इस प्रकारका संकोच या भय कुछ नहीं होता। चन्द्रावलीका तदीयता भावमय स्नेह और राधाका मदीयता भावमय स्नेह श्रीकृष्णपर जिस प्रकारका प्रभाव विस्तार करते हैं, उससे इन दोनोंका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। चन्द्रावलीको दूरसे देख कृष्ण आदरपूर्वक अपने स्थानसे उठकर आते हैं और उनका आलिङ्गन कर सुखी होते

हैं;[१] पर 'राधा' नाम मात्रके कर्णरन्ध्रमें प्रवेश करते ही वे निबिड़ आनन्दका अनुभव कर जगत्को भूल जाते हैं।[२]

घृत-स्नेहमें परस्परका आदर भाव उसे एक प्रकारका शीतलत्व प्रदान करता है। जिस प्रकार घृतका स्वाद शक्करके संयोगसे उद्रिक्त होता है, उसी प्रकार घृत-स्नेहका स्वाद मदरूप उष्णता या मधु स्नेहाभास मिलित होनेसे उद्रिक्त होता है।[३] मधु स्नेहका माधुर्य अपने-आप ही प्रकटित होता है।[४] मधु मत्तता और ऊष्माका संचार

---

१. अभ्युत्थाय विदूरतो मधुभिदा याश्लिष्यते सादरं
या स्नेहेन वशीकरोति गुरुणा पावित्र्य पूर्णेनतम्।
क्षिप्रं याति सितोपलेव विलयं तत्केलिवृष्ट्या च या
युक्ता हन्त कयोपमातुमपि सा चन्द्रावली मे सखी॥
—उ० नी० स्थायि, ६०

२. राधा स्नेहमयेन हन्त रचिता माधुर्यसारेण सा
सौधीव प्रतिमा घनाप्युरुगुणैर्भावोष्मणा विद्रुता।
यन्नामन्यपि धामनि श्रवणयोर्याति प्रसङ्गेन मे
सान्द्रानन्दमयी भवत्यनुपमा सद्यो जगद्विस्मृतिः॥
—उ०नी० स्थायि, ६५

३. आत्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते।
भावान्तरान्वितो गच्छन् स्वादोद्रेक न तु स्वयम्॥
घनीभवेन्निसर्गातिशीतलान्मिथ आदरात्।
गाढादरमयस्तेन स्नेहः स्याद्घृतवद्घृतम्॥
—उ० नी० स्थायि ८८, ८६

४. मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु॥
स्वयं प्रकटमाधुर्यो नानारस समाहृतिः।
मत्ततोष्मधरः स्नेहो मधुसाम्यान्मधूच्यते॥
—उ० नी० स्थायि, ६३, ६४

करता है। मधु स्नेह भी आनन्दाधिक्यरूप मत्तता और गर्व तथा उत्कण्ठारूप ऊष्मा जन्माता है। मधु-स्नेहघन-प्रतिमारूप राधा मदीयतामय भावके कारण श्रीकृष्णको अपना जानकर उनके आनुकूल्यके लिये बलवती उत्कण्ठा-की उष्मासे द्रवित रहती हैं। राधाके स्नेहकी स्वत: स्फूर्त उत्कण्ठाकी उष्मा उनके स्वत:स्फूर्त माधुर्यका हेतु है।

मान

जब स्नेह गाढ़त्व प्राप्त कर चित्तको और अधिक द्रवित करते हुए, तथा नूतन माधुर्यका आस्वादन कराते हुए स्वयं अदाक्षिण्य (कौटिल्य) धारण करता है, तो उसे मान कहते हैं।[1] भीतर प्रचुर आनन्द और बाहर कौटिल्य-वाम्य, वक्र व्यवहार है मानका प्रधान लक्षण।

उज्ज्वल नीलमणिमें मानका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—राधा श्रीकृष्णके साथ वन-विहार कर रही थीं। उस समय श्रीकृष्णके प्रति उनका स्नेह और अधिक गाढ़त्व प्राप्त कर उनके माधुर्यका नूतन रूपमें आस्वादन कराने लगा। फलस्वरूप उनका चित्त अत्यधिक द्रवित हो गया और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। चित्त द्रवताको गोपन करनेके लिये वे

१. स्नेहस्तूत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥
—उ० नी० स्थायि ९६

श्रीकृष्णसे कहने लगीं—'हे गोपवीर ! दूर चरते हुए तुम्हारे उस गो-समूहकी पद-धूलि नेत्रोंमें पड़ जानेके कारण मेरे नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है।' श्रीकृष्णने यह कहकर कि मैं फूंककर तुम्हारे नेत्रोंको शीतल किये देता हूँ' जैसे ही फूंक मारना प्रारम्भ किया, राधा बाहरसे कौटिल्य धारण करते हुए और श्रीकृष्णके प्रेमको कपट-प्रेम बतलाकर उनका तिरस्कार करनेका भाव दिखाते हुए, बोलीं—'रहने दो, रहने दो, तुम्हारे मुखकी वायुसे (अर्थात् तुम्हारे कपट-प्रेमसे) क्या होना है?' और इतना कह उन्होंने अपनी सुन्दर भ्रकुटी तान ली।

शङ्का हो सकती है कि जब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी और उनका सब प्रकारसे आनुकूल्य करनेकी बलवती लालसा ही भागवती प्रीतिका सार है, तो उसमें यह प्रतिकूल भाव कैसा ? इसका उत्तर यह है कि सर्पकी गतिके समान प्रीतिकी गति स्वभावतः कुटिल है। जिस प्रकार कौटिल्य प्रीतिका स्वभाव है, उसी प्रकार आनन्ददातृत्व भी प्रीतिका स्वभाव है। इसलिये प्रीतिका कौटिल्य भी श्रीकृष्णको आनन्दित करता है। भ्रकुटि जिस प्रकार राधाकी शोभा वर्धन करती है, उससे श्रीकृष्णको अतिशय आनन्दका अनुभव होता है।

प्रणय

मान जब गाढ़ता लाभकर विश्रम्भ धारण करता है, तब उसे प्रणय कहते हैं।[1]

---

१. मानो दधानो विश्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः ।।
—उ० नी० स्थायि, १०८

'विश्रम्भ' शब्दका अर्थ है विश्वास या सम्भ्रमराहित्य। श्रीजीवगोस्वामीने कहा है—'विश्रम्भः प्रियजनेन सह स्वस्याभेद मननम्—प्रियजनोंके साथ अपना अभेद-ज्ञान ही विश्रम्भ है।' श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती पादने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि अपने प्राण, मन, बुद्धि, देहादिकी प्रियके प्राण, मन, देहादिसे ऐक्यकी भावनासे ही इस प्रकारका सम्भ्रमराहित्य उत्पन्न होता है। जिस प्रकार अपने देहमें अपना पदस्पर्श होनेसे सङ्कोच नहीं होता, उसी प्रकार प्रणयमें प्रियके देहमें अपना पाद स्पर्श होनेसे किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं होता। संकोचका अभाव ही है प्रणय। इसीलिये श्रीकृष्णके सखा उनके कन्धे चढ़नेमें सङ्कोच नहीं करते और राधा श्रीकृष्णके उनके चरणोंमें लोटने पर सङ्कोच नहीं करतीं। श्रीमद्-भागवतमें वर्णन है कि शारदीय रास-स्थलीसे अन्तर्धानके समय श्रीकृष्ण जिस गोपीको साथ ले गये थे, उसने बिना सङ्कोचके उनसे कहा था—"अब मुझसे नहीं चला जाता। तुम मुझे वहन कर जहाँ इच्छा हो ले चलो।"[1] यह भी प्रणयके विश्रम्भका एक उदाहरण है।

राग

प्रणय उत्कर्ष धारण कर जब दुःखका सुख रूपमें अनुभव कराता है, तो उसे राग कहते हैं।[2] रागकी

---

१. भा० १०।३०।३७ की यह उक्ति बहुतसे आचार्योंके मतसे श्रीराधाके लिए ही है।

२. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥
उ० नी० स्थायि, १२६

अवस्थामें वह दुःख जिसे गीकार अंकरनेमें श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना होती है, परम सुखकी तरह प्रतीत होता है, और वह सुख जिसे वरण करनेमें कृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावना नहीं रहती, परम दुःख जैसा प्रतीत होता है।

उज्ज्वल नीलमणिमें रागका एक उदाहरण इस प्रकार है। श्रीकृष्ण गोचारणको गये हैं। श्रीराधा आदि व्रज - सुन्दरियाँ भी श्रीकृष्णके दर्शनके लिये गोवर्धनके निकट गयी हैं। श्रीकृष्ण गिरि गोवर्धनके उस पार हैं। श्रीराधिका गोवर्धनपर चढ़कर श्रीकृष्ण-दर्शन कर रही हैं। ज्येष्ठ मासके मध्याह्न सूर्यकी किरणोंसे पर्वत अग्निके समान तप रहा है, जिससे उनके चरण-कमल झुलस रहे हैं; ऊँचे-नीचे पत्थरोंकी तीक्ष्ण और नोकीली धारें उन्हें क्षत-विक्षत कर रही हैं। पर उन्हें इसका कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा है। श्रीकृष्ण-दर्शन जनित आनन्द-रससे उनका शरीर एँड़ीसे चोटी तक परिषिञ्चित हो जानेके कारण कोटि चन्द्रमाओंके समान सुशीतल और रुईके समान हलका हो गया है। फिर उनके चरणोंके झुलसने और क्षत-विक्षत होनेकी सम्भावना ही कहाँ है ?[1]

---

१. तीव्रार्कद्युतिदीपितैरसिलताधाराकरालाश्रिभि-
मार्तण्डोपलमण्डलैः स्थपुटितेऽप्यद्रेस्तटे तस्थुषी।
पश्यन्ती पशुपेन्द्रनन्दनमसाविन्दीवरैरास्मृते
तल्पे न्यस्तपदाम्बुजेव मुदिता न स्पन्दने राधिका ।।
—उ. नी. स्थायि १२७

अनुराग

राग गाढ़त्व प्राप्त कर जब स्वयं नयी-नयी वैचित्री धारण करता है और प्रियका नये-नये रूपमें अनुभव कराता है, तो उसे अनुराग कहते हैं।[१]

अनुराग श्रीकृष्णके रूप-गुण-माधुर्यादिका प्रतिक्षण नये और पहलेसे उत्कृष्ट रूपमें अनुभव कराता है, जिससे लगता है कि जैसे उन्हें पहली बार देखा हो। अनुरागवती राधा ललितासे कहती हैं—"हे सखी! 'कृष्ण'—इन दो अक्षरोंने मेरे कानमें प्रवेश करते ही मेरा धैर्य लूट लिया है। यह कृष्ण कौन है?" ललिता कहती हैं—"हे रागान्धे! यह तू क्या कह रही है? तू सदा ही तो कृष्णके वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करती है! राधा फिर कहती हैं—'सखी! हास्य क्यों करती है? ऐसी असम्भव बात क्यों कहती है?' तब ललिता कहती हैं—'मोहिते! मैंने अभी ही तो तुझे कृष्णके हाथोंमें सौंपा था। क्या इतनी जल्दी भूल गयी?' ललिताकी बात सुन राधाको कृष्णसे अपने मिलनकी सुधि आती है और वे कहती हैं— "सखी! तू ठीक कहती है। पर मुझे लग रहा था कि जैसे मैंने

---

१. सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥
—उ. नी. स्थायि १४६

कृष्णको अभी ही देखा हो, और वह भी विद्युतके समान केवल एक क्षणके लिये।'[१]

अनुराग अपने विचित्र प्रभावके कारण नायक और नायिकामें जिन क्रियाओंका विस्तार करता है वे इस प्रकार हैं :—

(क) **परस्पर वशीभाव**—प्रेममें नायक और नायिकाका परस्पर वशीभाव रहनेपर भी लज्जा और अवहित्था (मनोभाव गोपन करनेकी चेष्टा) के कारण नायिकाका वशीभाव उतना प्रकाश नहीं पाता। अनुरागमें तृष्णा अधिक होनेके कारण लज्जा आदिके लिये कोई स्थान नहीं रहता।

उज्ज्वल नीलमणिमें इसका उदाहरण इस प्रकार है। राधा और कृष्ण एक-दूसरेसे मिलनेकी बलवती उत्कण्ठा लिये एक दूसरेको खोजते-खोजते किसी कुञ्ज पथपर आनन्द विभोर हो जाते हैं। उसी समय अकस्मात कुन्दलता वहाँ आ जाती है और उनका नवोच्छलित माधुर्य देखकर विस्मयपूर्वक कहती हैं—'हे अघ दमन! तुम और राधा एक-दूसरेको वशीभूत करनेके लिये आज

---

१. कोऽयं कृष्ण इति व्युदस्यति धृतिं यस्तन्वि ! कर्णंविशन्
रागान्धे ! किमिदं सदैव भवतीतस्योरसि क्रीड़ति।
हास्यं मा कुरु मोहिते ! त्वमधुना न्यस्तास्य हस्ते मया
सत्यं सत्यमसौ दृगङ्गनमगादद्यैव विद्युन्निभः॥
—उ. नी. स्थायि, १४८

जिस संरम्भ लहरी (परस्परके लज्जा-संकोच-रहित दर्शन-स्पर्शन-चुम्बनादिसे उत्पन्न परमाविष्टता) का विस्तार कर रहे हो, वह अपूर्व है। राधाने अपनी अनुराग-शृङ्खलसे तुम्हारे मनोरूप हस्तीको बांध लिया है, और तुमने अपने प्रेमोत्सव रूप नयी रज्जूसे राधाके मनोरूप हिरनको बाँध लिया है।"[1]

(ख) **प्रेमवैचित्त्य**—प्रेमके उत्कर्षके कारण प्रियके सन्निधानमें रहकर भी उससे विच्छेदके भयसे जो आर्ति होती है, उसका नाम है प्रेमवैचित्त्य।[2] ऐसी अवस्थामें प्रेमिका श्रीकृष्णसे सम्बन्धित किसी एक विषयकी चिंतामें इतना तन्मय हो जाती है कि कृष्ण-सम्बन्धित अन्य विषयकी बात भी उसके मनमें स्फुरित नहीं होती, यहाँ तक कि निकट उपस्थित कृष्णका भी भान उसे नहीं होता।

उज्ज्वल नीलमणिमें दिये दृष्टान्तके अनुसार एक बार श्रीकृष्ण और मधुमङ्गलके समीप बैठी राधा अपने मुखकमलपर मँडराते भ्रमरको हटा रही थी। मधुमङ्गलने कहा—"मधुसूदन (भ्रमर) चला गया।"

---

१. समारम्भं पारस्परिकविजयाय प्रथयतो-
रपूर्वा केयं वामघदमन संरम्भलहरी।
मनोहस्ती बद्धस्तव यदनया रागनिगडै-
स्त्वयाप्यस्याः प्रेमोत्सवनवगुणैश्चित्तहरिणः॥
—उ. नी. स्थायि, १५०

२. प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥
—उ. नी. शृङ्गारभेद, १४७

प्रेमोत्कर्षके प्रभावसे राधाने समझा मधुसूदन, अर्थात् श्रीकृष्ण चले गये। उनकी समस्त चित्त-वृत्ति श्रीकृष्णके अन्यत्र गमनपर इस प्रकार केन्द्रित हो गयी कि वे पास में बैठे श्रीकृष्णको भी न देख सकीं और उनके विरहमें आर्तनाद करने लगीं।

(ग) प्राणहीन वस्तुके रूपमें जन्म लेनेकी लालसा—अनुरागमयी गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी सम्भावनासे प्राणहीन वस्तुके रूपमें भी जन्म-ग्रहण करनेकी लालसाका पोषण करती हैं। उज्ज्वलनीलमणिमें 'दानकेलि-कौमुदी' का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें राधा ललितासे कहती हैं—'हे कृष्णोदरी! हम वेणु जातिमें जन्म-ग्रहण करनेके लिये तपस्या करेंगी। वेणु जातिका जन्म ही सब जन्मोंमें श्रेष्ठ है। देखो न, मुरली किसी तपस्याके फलसे मुरारिके बिम्बाधरसे लगी रहकर उनका कैसा आस्वादन करती है!'[१]

(घ) विप्रलम्भमें विस्फूर्ति—अनुरागकी अवस्थामें श्रीकृष्णके विरहमें भी उनकी सर्वत्र विस्फूर्ति होती है। उस विस्फूर्ति (विशिष्ट स्फूर्ति) में साक्षात् दर्शनकी तरह श्रीकृष्णके दर्शन होते हैं। राधाको जब कृष्ण-विरह-

---

१. तपस्यामः क्षामोदरि वरयितुं वेणुषु जनु-
र्वरेण्यं मन्येथाः सखि तदखिलानां सुजनुषाम्।
तपस्तोमेनोच्चैर्यदियमुररीकृत्य मुरली
मुरारातेर्बिम्बाधरमधुरिमाणं रसयति॥
उ. नी. स्थायी, १५२

में इस प्रकारकी विस्फूर्ति होती है, तब वे उन्हें आलिंगन करनेके लिये दौड़ती हैं। बाँह बढ़ाते ही विस्फूर्ति भङ्ग हो जाती है और उनकी विरह-वेदना दूनी हो जाती है।

महाभाव

अनुराग स्वसम्वेद्य दशाको प्राप्तकर प्रकाशित और यावदाश्रय वृत्ति हो तो उसे महाभाव कहते हैं।

स्वसम्वेद्य दशा—अनुरागके उत्कर्षसे श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनमें उत्कर्ष होता है और श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनसे अनुरागमें उत्कर्ष होता है। इस प्रकार गोपियोंके अनुराग और कृष्णके माधुर्यमें होड़-सी लगी रहती है।[1] जिस अवस्थामें अनुरागकी पूर्णतम अभिव्यक्ति होती है और श्रीकृष्ण-माधुर्यास्वादनका आनन्द पूर्णतम रूपमें होता है, उसे स्वसम्वेद्य दशा कहते हैं, क्योंकि उस अवस्थामें आनन्द-अतिरेकके कारण तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि आश्रयको अपना और विषयका ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञान रहता है केवल उस आनन्दके अनुभवका, मानो अनुभव ही अपना अनुभव कर रहा हो।

प्रकाशित—जब पाँच-छः अथवा सब सात्विक भाव एक साथ उदय होकर अनुरागको प्रकाशमान करते हैं, तो उसे प्रकाशित कहते हैं।

---

१. मन्माधुर्य राधाप्रेम दोहे होड़ करि।
अन्योन्य बाढ़ये केह मुख नाहि मुड़ि॥
चै. च. अ. ४.१२४

यावदाश्रय वृत्ति—अनुराग जब उस चरम अवस्था-को पहुँच जाता है, जिसमें किसी भक्तमें इसके प्रकाशनके समय और जितने भी सिद्ध और साधक भक्त होते हैं (यावदाश्रय) उन सभी पर इसकी क्रिया (वृत्ति) होती है, अर्थात् उनपर अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार इसके प्रभावका विस्तार होता है, तो उसे यावदाश्रय वृत्ति कहते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, महाभावमें उपरोक्त लक्षणोंके अतिरिक्त रतिसे लेकर अनुराग तक और जितने भी प्रीतिके विभिन्न स्तरोंके लक्षण हैं, सब पूर्ण रूपसे विद्यमान रहते हैं। महाभाव केवल व्रजसुन्दरियोंमें ही होता है। महिषियोंमें यह सम्भव नहीं है, क्योंकि उनकी प्रीति सर्वथा कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी और स्वसुख-बासना-रहित नहीं है।

महाभावकी एक विशेषता यह है कि यह मनको अपना स्वरूप प्रदान करता है, मन स्वयं महाभावात्मक हो जाता है। इन्द्रियाँ और उनकी सारी वृत्तियाँ भी महाभावात्मक हो जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मन, इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंकी सारी वृत्तियाँ सब परमतम माधुर्यमय हो जाती हैं। इसीलिये श्रीकृष्णको व्रज-देवियोंके सभी क्रिया-कलाप, जितने प्रिय लगते हैं, उतने अन्य देवियोंके नहीं लगते। उनका तिरस्कार भी उन्हें जितना सुख पहुँचाता है, उतना वेदाभिमानिनी देवियोंकी स्तुति भी नहीं पहुँचाती, क्योंकि वह चाहे कितनी उत्कृष्ट क्यों न हो, उसमें महाभाव नहीं है।

रूढ़ महाभाव

रूढ़, महाभावकी प्रथम अवस्था है। इसका शारीरिक लक्षण यह है कि इसमें पाँच-सात या सभी सात्विक भाव एक साथ उदित होते हैं। इस लक्षणको उद्दीप्त सात्विक कहते हैं।[1] इसके चित्तगत लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) **निमेषासहता**—इसमें श्रीकृष्ण-दर्शनके समय चक्षुओंका निमेष भी असह्य होता है।

(२) **आसन्नजनताहृद्‌विलोड़न**—जिस प्रकार समुद्र-में किसी एक स्थानमें उठी तरङ्ग निकटकी सभी वस्तुओं को आन्दोलित करती है, उसी प्रकार जिस स्थानपर रूढ़ महाभाव उदित होता है, उसके निकट अवस्थित लोक-समूहके चित्तमें भी वह अपने प्रभावका विस्तार करता है। व्रजगोपियोंका श्रीकृष्णसे कुरुक्षेत्रमें जहाँ मिलन हुआ था, वहाँ और कोई न था। सत्यभामा, रुक्मिणी आदि कुरुक्षेत्रमें ही उनसे दूर अपने-अपने स्थानपर थीं। पर उस मिलनके समय व्रज गोपियोंमें

---

१. निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्वाभासं विनापि स्युः क्वाप्यश्रुपुलकादयः ॥

—भ. र. सि. २-३-४६

जो रूढ़ महाभावकी तरङ्ग उठी थी, उसने उन्हें भी आप्लावित कर चमत्कृत कर दिया था ।[1]

(३) **कल्पक्षणत्व**—रूढ़ महाभावमें श्रीकृष्णसे मिलनके समय परमानन्दके आवेशमें एक कल्प भी निमिषमात्र लगता है। रास-लीलाकी ब्रह्म रात्रिके समान दीर्घ रात्रि भी गोपियोंको एक निमिषसे भी छोटी प्रतीत हुई थी ।

(४) **श्रीकृष्णके सुखमें दुःखकी आशङ्काके कारण खिन्नत्व**—महाभाववती व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके महासुखमें भी उनके दुःख की आशङ्का कर खेदको प्राप्त होती हैं। श्रीमद्भागवतका १०।३१।१९ श्लोक उद्धृत करते हुए उज्ज्वलनीलमणिमें कहा है कि गोपियाँ भली-भाँति जानती हैं कि श्रीकृष्ण उनके स्तनोंपर अपने चरण स्थापन कर अत्यन्त सुखी होते हैं ; फिर भी वे अपने स्तनोंको कर्कश जान भीत होती हैं कि कहीं उन्हें कष्ट न हो।

(५) **मोहादिक अभावमें भी सर्व-विस्मरण**—मोह और आवेगादिकी अवस्थामें लोगोंको अपनी और अन्य वस्तुओंकी विस्मृति हो जाती है, परन्तु महाभाववती

---

१. सद्यः प्रोक्ष्य कुरून् गुरुक्षितिभृतामाघूर्णयन्ती शिरः
स्वस्था विश्लथयन्त्यशेषरमणीराप्लाव्य सर्वं जनम् ।
गोपीनामनुरागसिन्धुलहरी सत्यान्तरं विक्रमै-
राक्रम्य स्तिमितां व्यधादपि परां वैकुण्ठकण्ठश्रियम् ।।
—उ. नी. स्थायी १६४

गोपसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके रूप-गुणादिकी अतिशय स्मृतिके कारण अपना देह-गेह, इहकाल-परकाल, वेद-धर्म, लोक-धर्म, लज्जा, कुल, शीलादि सब भूल जाती हैं। श्रीम. भा. ११।१२।१२ ॥

(६) **क्षण कल्पतादि**—श्रीकृष्णके वियोगमें व्रज-गोपियोंको एक क्षण भी कल्पके समान प्रतीत होता है। इसलिये रूढ़ महाभावमें ऐसी शक्ति है कि वह श्रीकृष्णको आविर्भावित करा सकती है। इस शक्तिके कारण ही रास-लीलामें श्रीकृष्णको अन्तर्धानके पश्चात् फिर आविर्भावित होना पड़ा था। श्रीम. भा. १०।३२।२ ॥

अधिरूढ़ महाभाव

अधिरूढ़ महाभावमें सात्विक भाव रूढ़महाभावसे भी अधिक एक अनिर्वचनीय वैशिष्टय धारण करते हैं।[1] अनिर्वचनीय होते हुए भी इसके वैशिष्टयका कुछ आभास पार्वतीके प्रति महादेवकी उक्तिसे मिलता है, जिसे उज्ज्वलनीलमणिमें उद्धृत किया गया है। महादेवने कहा कि वैकुण्ठादि चिन्मय धामोंमें अतीत, वर्त्तमान और भविष्यमें जितना सुख और प्रेमोत्कण्ठा-जनित जितना दुःख हुआ, हो रहा है और होगा तथा प्राकृत ब्रह्माण्डमें जितना सुख-दुःख हुआ, हो रहा है और होगा,

---

१. रूढ़ोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामव्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढ़ो निगद्यते ॥
उ. नी. म., स्थायि, १७०

उन्हें सबको एकत्र कर सुख और दुःखके अलग-अलग दो स्तूप बनाये जायें, तो भी श्रीराधाके प्रेमसे उद्भूत सुख-दुःखके समुद्रकी एक बूंदके आभासके समान भी नहीं होंगे।

मोदन

अधिरूढ़ महाभावमें यदि राधा और कृष्ण दोनोंमें ही उद्दीप्त सात्विक भाव अनिर्वचनीय वैशिष्टय धारण करें तो उसे मोदन कहते हैं।[1]

'ललितमाधव' में नव-वृन्दा द्वारा राधा-कृष्णके मिलनका वर्णन मोदनका एक उदाहरण है—

'आतन्वन कलकण्ठनादमतुलं स्तम्भश्रियो जृम्भितो
भूयिष्ठोच्छलदङ्कुरः फलितवानस्वेदाम्बुमुक्ताफलैः।
उद्यद्बाष्पमरन्दभागविचलोऽप्युत् कम्पवान् विभ्रमै
राधामाधवयोर्विराजति चिरादुल्लास कल्पद्रुमः॥'

यहाँ राधा-माधवके परस्पर मिलनकी अवस्था की तुलना कल्पवृक्षसे की गयी है। कल्पवृक्षपर बैठी कोकिल जिस प्रकार मधुर स्वरका विस्तार करती है, उसी प्रकार राधा-माधव-मिलनकी अवस्थामें भावोल्लासके कारण स्वरभेद नामक सात्विक भावको प्राप्त कर मधुर और अस्पष्ट शब्दका उच्चारण कर रहे हैं; कल्प-वृक्षका तना जिस प्रकार स्तम्भाकृतिका होता है, उसी

१. मोदनः स द्वयोर्यत्र सात्विकोद्दीप्तसौष्ठवम्॥
उ. नी. म. स्थायि, १७३

प्रकार श्रीराधा-माधव नामक सात्विक भावके कारण निश्चल होकर स्तम्भके समान शोभा पा रहे हैं ; कल्प-वृक्षमें जिस प्रकार बहुत-सी टहनियोंके अंकुर फूटे होते हैं, वैसे ही श्रीराधा-माधवमें रोमाञ्च (पुलक) शोभा पा रहा है ; कल्पवृक्षमें जैसे फल आते हैं वैसे ही श्रीराधा-माधवके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें मुक्ताफलके समान स्वेद-बिन्दु उनकी शोभा बढ़ा रहे हैं ; कल्पवृक्ष से जिस प्रकार मधु टपकता है, उसी प्रकार श्रीराधा-माधवके नेत्रोंसे अश्रुधारा-रूप मधु प्रवाहित हो रहा है ; कल्पवृक्षके निश्चल होते हुए भी जिस प्रकार पक्षियोंके भ्रमणके कारण उसकी टहनियाँ हिलती हैं , उसी प्रकार स्तम्भके कारण स्थिर होते हुए भी श्रीराधा-माधवका अंग विकम्पित हो रहा है ; कल्पवृक्ष जिस प्रकार अभीष्ट फलदायक होता है , उसी प्रकार परस्पर मिलनकी ऐसी अवस्थामें श्रीराधा-माधवका चिन्तन भक्तोंके लिये अभीष्ट फलदायक, अर्थात् प्रेम प्रदान करने वाला है ।

मोदन ह्लादिनी-शक्तिका 'सुविलास' उसकी परम वृत्ति स्वरूप है । यह मधु स्नेहवती श्रीराधा और उनके यूथकी व्रजाङ्गनाओंमें ही सम्भव है, चन्द्रावली आदिके यूथकी व्रजाङ्गनाओंमें नहीं ।

मोहन

मोदनमें जब श्रीकृष्ण-विरह घटता है और उद्दीप्त सात्विक भाव सुद्दीप्त होते हैं, अर्थात् इतने सुष्ठरूपसे

उद्दीप्त होते हैं कि प्रत्येक अपनी चरम अवस्थाको प्राप्त होता है, जैसे अश्रु पिचकारीकी तरह निकलते हैं, कम्पमें प्रत्येक दाँत खट-खट शब्द करता है, स्वेदमें पसीनेके साथ रक्त बहिर्गत होता है, तो उसे मोहन कहते हैं।'[1]

मोहनमें मोहके उत्पन्न होनेपर उसकी विलक्षणता और अधिक बढ़ जाती है। 'मोह'के विषयमें 'भक्ति-रसामृत सिन्धुमें' कहा है—'हर्ष, विच्छेद, भय एवं विषादादिके कारण चित्तमें जो मूढ़ता (बोधशून्यता) उत्पन्न होती है, उसका नाम मोह है। मोहमें भूमिपर पतन, शून्येन्द्रियता, भ्रमण, निश्चेष्टता आदि लक्षण प्रकाश पाते हैं।'[2]

मोहन भाव केवल राधामें सम्भव है। उद्धव जब व्रजसे मथुरा लौट कर गये थे, तो उन्होंने कृष्णसे राधाका मोहन भाव वर्णन करते हुए कहा था—'उनके कण्ठसे एक शब्द भी निकलना कठिन है, उनके अश्रुओंसे गोकुल प्लावित हो रहा है, कम्पके कारण उनके दाँत खट-खट शब्द करते हैं, रोमाञ्चके कारण उनका देह इतना

---

१. मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत्।
यस्मिन् विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्विकाः ॥
—उ. नी. म. स्थायि, १७६

२. मोहो हृन्मूढ़ता हर्षाद्विश्लेषाद्भयतस्तथा।
विषादादेश्च तत्र स्याद्देहस्य पतनं भुवि।
शून्येन्द्रियत्वं भ्रमणं तथा निश्चेष्टतामयः ॥
—भ. र. सि. २.४.४५

कन्टकित है कि कटहल भी उसकी तुलनामें कुछ नहीं है, इत्यादि ।[1] राधा भावमें आविष्ट श्रीचैतन्य महाप्रभुमें भी इस प्रकारके सुद्दीप्त सात्विक भाव होते थे, जिनका चैतन्य-चरितामृतमें वर्णन है ।[2]

मोहनकी अवस्थामें कुछ और विशेष प्रकारके लक्षण प्रकाशित होते हैं, जिनका वर्णन उज्ज्वल नीलमणिमें इस प्रकार है—

---

१. उद्यद्वेपथुवाद्यमानदशना कण्ठस्थलान्तर्लुठत्
जल्पा गोकुलमण्डलं विदधती वाष्पैर्नदीमातृकम् ।
राधा कण्टकितेन कण्टकिफलं गात्रेण धिक्कुर्वती
चित्रं तद्घनरागराशिभिरपि श्वेतीकृता वर्तते ।।

—उ. नी. स्थायि, १८०

२. मांस-व्रण-सह रोमवृन्द पुलकित ।
शिमुलिर वृक्ष जेन कण्टक वेष्टित ।।
एकेक दन्तेर कम्प देखि लागे भय ।
लोके जाने—दन्त सब खसिया पड़य ।।
सर्व्वाङ्गे प्रस्वेद छुटे—ताते रक्तोद्गम ।
जज गग जज गग—गद्गद वचन ।।
जलयन्त्र धारा जेन बहे अश्रु जल ।
आशपाश लोक जत भिजिल सकल ।।
देहकान्ति गौर कभु देखिये अरुण ।
कभु कान्ति देखि जेन मल्लिका पुष्प-सम ।।
कभु स्तब्ध, कभु प्रभु भूमिते पड़य ।
शुष्ककाष्ठसम हस्तपद ना चलय ।।
कभु भूमि पडे, कभु हय श्वासहीन ।
जाहा देखि भक्तगणेर हय प्राण क्षीण ।।

—चै. च. म. १३. ९७-१०३

(१) **कान्ता द्वारा आलिङ्गित अवस्थामें भी श्रीकृष्ण-की मूर्च्छा**—श्रीकृष्ण-विरहार्ता राधामें जब मोहन भाव-का उदय होता है, तो उस समय उसके प्रभावसे श्रीकृष्ण सुदूर द्वारकामें रुक्मिणीके आलिङ्गनका सुख अनुभव कर रहे हों, तो भी उन्हें राधाके साथ अपने केलि-विलास-माधुर्यका स्मरण हो आता है और उसका स्मरण करते-करते वे मूर्च्छित हो जाते हैं।[1]

(२) **असह्य दुःख स्वीकार करके भी श्रीकृष्ण-सुखकी कामना करना**—इसका एक उदाहरण यह है कि मथुरा लौटते समय जब उद्धवने राधासे पूछा—'श्रीकृष्णसे तुम्हारा क्या सन्देश कहूँ?' तब उन्होंने उत्तर दिया—"उद्धव! उनसे कहना कि उनके वृन्दावन आनेसे हमें अपार सुख और न आनेसे अपार दुःख होगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। पर यदि यहाँ आनेमें उन्हें किञ्चिन्मात्र क्षति हो, तो यही अच्छा होगा कि वे यहाँ कभी भी न पधारें।'[2]

---

१. रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारकाया,
रुक्मिण्यापि प्रबलपुलकोद्भेदमालिङ्गितस्य।
विश्वं पायान्मसृणयमुनातीरवानीरकुञ्जे,
राधाकेली भर परिमलध्यानमूर्च्छा मुरारेः॥
—उ. नी. म. स्थायि, १८४

२. स्यान्नः सौख्यं यदपि बलवद्गोष्ठमाप्ते मुकुन्दे,
यद्यल्पापि क्षतिरुदयते तस्य मागात् कदापि।
अप्राप्तेऽस्मिन् यदपि नगरादार्त्तिरुग्रा भवेन्नः,
सौख्यं तस्य स्फुरति हृदि चेत्तत्र वासं करोतु॥
—उ. नी. म. स्थायि १८५

(३) **ब्रह्माण्ड-क्षोभकारिता**—राधामें जब मोहन भावका उदय होता है, तब समस्त ब्रह्माण्ड और वैकुण्ठादि चिन्मयधाम पर्यन्त क्षोभित होते हैं। एक बार जब राधामें मोहन भावका उदय हुआ तो नन्दीमुखीने योग-दृष्टिसे प्राकृत और अप्राकृत लोकोंमें उसके प्रभाव-को देख श्रीकृष्णसे द्वारकामें जाकर उसका इस प्रकार वर्णन किया—'हे ईश ! उस समय राधाके प्रेमनिश्वास-रूप धूमके चारों ओर फैल जानेसे सभी नर-नारी और देवी-देवताओंकी आश्चर्यजनक अवस्था देखनेमें आयी। जगत्के नर-नारी उच्च स्वरसे चीत्कार करने लगे, सप्त-पातालके फणि आदि जन्तु व्याकुल होने लगे, स्वर्गके देव-देवीगण स्वेदसे प्लावित हो पड़े, और वैकुण्ठमें लक्ष्मी आदि प्रचुर परिमाणमें अश्रु - विसर्जन करने लगीं।'[1]

मोहनके सम्बन्धमें एक बार राधाने अपनी सखीसे कहा—'हे सखी ! श्रीकृष्णका विरह-जनित ताप बड़वानल-पुञ्जसे भी कटु है; मेरा दुर्बल शरीर न जाने कैसे उसे सहन करता है। इस तापकी धूमच्छटा भी यदि

---

१. नारं चुक्रोश चक्रं फणिकुलमभवद्व्याकुलं स्वेदमूहे
वृन्दं वृन्दारकाणां प्रचुरमुदमुचन्नश्रु वैकुण्ठभाजः।
राधायाश्चित्रमीश ! भ्रमति दिशि दिशि प्रेमनिःश्वासधूमे
पूर्णानन्देऽप्युषित्वा वहिरिदमवहिश्चार्त्तमासीदजाण्डम् ॥
—उ. नी. स्थायि, १८६

मेरे हृदयसे बाहर निकल जाय, तो ब्रह्माण्ड समूह ही उसकी ज्वालासे ध्वंस हो जाय।'[१]

श्रीजीव गोस्वामीका मत है कि मोहनकी दशामें श्रीराधाकी प्रेम-धूमच्छटा कदाचित् ही बहिर्गत होती है। पर यहाँ फिर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रेम-स्वरूपसे ही परमानन्दमय है। इसलिये विरहकी अवस्थामें राधाकी धूमच्छटा, जो प्रेमका ही एक रूप है, स्वरूपसे आनन्दमय है। विरहमें प्रेम तापकी उपाधि धारण कर लेनेके कारण बाहरसे ही तापमय जान पड़ता है; वास्तवमें उसका आस्वादन मिलनकी अवस्थाके आनन्दसे भी कहीं अधिक होता है। इसलिये राधाकी धूमच्छटाके प्रभावके कारण ब्रह्माण्ड बाहरसे क्षोभित जान पड़नेपर भी परमानन्दसे परिप्लुत रहता है।

(४) **तिर्यक जातिका रोदन**—मोहन भावमें जब राधा रोदन करती हैं, तो मत्स्यादि तिर्यक प्राणी भी रोदन करने लगते हैं।

(५) **मृत्यु स्वीकार करके भी अपने देहके भूत-समूह द्वारा श्रीकृष्ण-सङ्गकी तृष्णा**—विरहकी अवस्थामें

---

१. और्व्वस्तोमात् कटुरपि कथं दुर्बलेनोरसा मे
तापः प्रौढ़ो हरिविरहजः सह्यते तन्न जाने।
निष्क्रान्ता चेद्भवति हृदयाद् यस्य धूमच्छटापि,
ब्रह्माण्डानां सखि! कुलमपि ज्वालया जाज्वलीति॥

—उ. नी. म., स्थायी, १८७

श्रीराधा जीवित अवस्थामें श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशा त्यागकर मृत्युकी कामना पोषण करती हैं, जिससे उनके शरीरके पाँचों तत्त्व बिखर कर श्रीकृष्णके उपयोगमें आने वाली वस्तुओंमें प्रवेश कर जायें।[१]

(६) **दिव्योन्माद**—मोहन भावमें भ्रम-सदृश (भ्रमाभा) किसी अनिर्वचनीय वृत्तिको दिव्योन्माद कहते हैं।[२] यह बाह्य दृष्टिसे कुछ-कुछ प्राकृत उन्मादके सदृश दीखनेपर भी मस्तिष्ककी विकृतिसे उत्पन्न प्राकृत उन्माद नहीं है। इसीलिये इसे दिव्य-उन्माद कहते हैं। इसे भ्रम न कहकर भ्रमाभा या भ्रम-सदृश इसलिये कहते हैं कि इसमें वास्तवमें भ्रम नहीं होता, अननुसन्धान मात्र होता है। श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी एक विषयमें राधाकी समस्त इन्द्रिय-वृत्ति इस प्रकार केन्द्रीभूत हो जाती है कि उन्हें अन्य विषयोंका अनुसन्धान ही नहीं रहता, जिसके कारण उन विषयोंके सम्बन्धमें उनका भाव भ्रम-सदृश होता है।

---

१. पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं,
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे, ज्योतिस्तदीयाङ्गन
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥
—उ. नी. म., स्थायि १८६

२. एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः।
भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते॥
—उ. नी. म. स्थायि, १९०

दिव्योन्मादके बहुत भेद हैं, जिनमें मुख्य हैं—उद्घूर्णा और चित्रजल्प। उद्घूर्णा में राधा श्रीकृष्णके मथुरामें रहते समय वृन्दावनमें उनकी अनुपस्थितिको भूलकर वासक-सज्जा नायिकाके समान कृष्णके कथनानुसार उनके आगमनकी प्रतीक्षा करती हैं और उनके मनोरंजन-के लिए कुञ्जको और अपने-आपको सुसज्जित करती हैं। खण्डिता भावमें वे खण्डिता-नायिकाका सा व्यवहार करती हैं। खण्डिता नायिका रात्रि कृष्णकी प्रतीक्षामें व्यतीत कर उनके न आनेका कारण यह समझती हैं कि उन्होंने रात्रि अन्य किसी प्रेयसीके साथ व्यतीत की है और प्रातःकाल जब वे अन्य नायिकाके साथ सम्भोग-चिह्न धारण किये हुए आते हैं तो उन पर क्रोध करती हैं। इसी प्रकार राधा रात्रि कृष्णकी प्रतीक्षामें व्यतीत कर प्रातःकाल आकाशमें नील मेघको देख कृष्ण समझती हैं और उसमें बीच-बीचमें श्वेतादि वर्ण देख उन्हें अन्य नायिकाके भोग-चिह्न समझती हैं और उस नील मेघपर तर्जन-गर्जन करती हैं।

चित्रजल्पमें राधाको प्रियतमके किसी सुहृदको देख उनके प्रति गूढ़ रोष जाग्रत होता है और वे अद्भुत (चित्र या विचित्र) कथन (जल्प) का प्रकाश करती हैं। चित्रजल्पके प्रजल्प, परिजल्प, विजल्पादि दस अङ्ग हैं, जिनका विस्तारके भयसे हम यहाँ उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

मादन

गाढ़तम मोदन, ह्लादिनीकी चरमतम परिणति, सर्वभावोद्गमोल्लासी प्रेमकी अवस्थाको मादन कहते हैं।[1] मादन सर्वश्रेष्ठ भाव है। यही राधाका भाव है। इसकी आश्रय एकमात्र वे ही हैं। यह भाव अपूर्व, अतुलनीय, अनिर्वचनीय और दुर्ज्ञेय है। स्वयं श्रीकृष्णके लिए भी यह दुर्ज्ञेय है।[2]

'सर्वभावोद्गमोल्लासी' का एक अर्थ, जैसा हम पहले कह चुके हैं, यह है कि जब मादनका आविर्भाव होता है, तब मादनके अन्तर्भुक्त रतिसे लेकर मोदन पर्यन्त प्रेमके सभी स्तर उल्लासमय हो उठते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भूत होनेपर, उनके अन्तर्भुक्त सभी भगवत्-स्वरूप आविर्भूत हो अपनी-अपनी महिमाका विस्तार करते हैं।

'सर्वभावोद्गमोल्लासी' का एक और भी अर्थ है, जो मादनकी एक असाधारण विलक्षणताका परिचायक है। वह अर्थ यह है कि मादनमें श्रीकृष्णके दर्शनके समय या श्रीकृष्णकी स्मृति मात्रके उद्दीपनके समय श्रीकृष्ण द्वारा आलिंगन, चुम्बनादि अनन्त संयोग वैचित्रीका एक साथ (एक ही प्रकाशमें) साक्षात् अनुभव होता है तथा

---

१. सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात् परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥

२. उ. नी. म., स्थायी, २१६, आनन्द चन्द्रिका टीका

सम्भोगके इस प्रकारके अनुभवके साथ-साथ वियोगकी भी अनन्त वैचित्रीका (एक ही प्रकाशमें) साक्षात् अनुभव होता है—'यद्विलासा विराजन्ते नित्यलीलाः सहस्रधा।' यह किस प्रकार सम्भव होता है, इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह एक परम अद्‌भुत, अनिर्वचनीय व्यापार है। सम्भोगके साथ वियोगके सम्मिश्रणके कारण मादनमें सम्भोगके लिये बलवती उत्कण्ठा भी वर्त्तमान रहती है, जो सम्भोगको और भी अनन्तगुणा आस्वाद्य बना देती है। सम्भोग और वियोग राधाके प्रेम रसार्णवकी उत्ताल तरङ्गोंके स्वाभाविक उतार-चढ़ाव हैं, जिनके कारण वह प्रेमाम्बुधि निरन्तर तरंगायित रहकर युगलको नित्य नयी रस-माधुरीका आस्वादन कराता है।

उज्ज्वल नीलमणिमें मादनके दो अनुभावोंका उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—

(क) **अयोग्य वस्तु से ईर्ष्या**—इसके दृष्टान्तस्वरूप उज्ज्वलनीलमणिमें 'दान केलि-कौमुदी'का एक अंश उद्‌धृत है, जिसमें श्रीकृष्ण दान (कर) वसूल करनेके लिये दान-घाटीमें सखियोंसे परिवेष्टिता राधाका पथ अवरुद्ध करते हुए दङ्डायमान हैं। राधा श्रीकृष्णके वक्षःस्थल पर बनमालाको देख मन-ही-मन कहती हैं—'बनमाला कैसी भाग्यशाली है! जिस वस्तुको उसकी अधिकारिणी होते हुए भी हमें एक निमेषके लिए भी स्पर्श करनेका अभी तक सौभाग्य नहीं हुआ, उसे कण्ठसे लेकर चरणों

तक आलिङ्गन किये हुए है ! हमारी वस्तुको हमारे सामने ही लूटते हुए इसे लज्जा भी नहीं आती !' वन-माला श्रीकृष्णसे अपने-आप लिपट जानेकी और उनके आलिङ्गनके सुखका उपभोग करनेकी सामर्थ्य नहीं रखती, फिर भी मादनके कारण राधा उससे ईर्ष्या करती हैं।

(ख) **सतत सम्भोगमें भी श्रीकृष्णकी गन्धधारी वस्तु तककी स्तुति**—श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है कि किसी समय राधाके साथ कृष्णके विहारमें राधाके कुचोंका कुंकुम श्रीकृष्णके चरणोंमें लिप्त हो गया था। विहारके पश्चात् जब श्रीकृष्ण वन-पथसे जा रहे थे, उनके चरणोंका कुंकुम पथस्थित तृणादिसे संलग्न हो गया। उस कुंकुमकी गंधसे आकृष्ट पुलिन्द-कन्याओंने उसे लेकर सौरभ और सौन्दर्य-वर्धनके लिए अपने वक्षःस्थलमें लगा लिया। अपनी सखियोंके साथ भ्रमण करते-करते जब राधाने पुलिन्द-कन्याओंको देखा तो कुंकुमकी गन्धसे ही वे समझ गयीं कि तृण-संलग्न श्रीकृष्णके चरणोंके कुंकुमको देखते ही पुलिन्द-कन्याओंको कन्दर्प रोग हो गया था और उस कुंकुमका अपने कुचोंमें लेपन कर उन्होंने उस रोगसे मुक्ति पायी थी। यह सोचकर वे उनके भाग्यकी सराहना करने लगीं और अपने भाग्यको धिक्कारते हुए कहने लगीं—'हाय हम श्रीकृष्णकी स्वजातीया हैं। हमारे सौन्दर्यकी लोग प्रशंसा करते हैं। हम श्रीकृष्ण-सङ्गकी कामना भी करती हैं। पर श्रीकृष्ण-सङ्ग तो दूर, हमें वह

सौभाग्य भी प्राप्त नहीं हुआ जो इन्हें हुआ है। श्रीकृष्ण-कान्ता-कुच-कुंकुमका स्पर्श भी हमारे भाग्यमें नहीं था।'[१]

प्रश्न है कि कृष्णसे मिलनकी अवस्थामें ही मादन होता है। मादनका अनुभाव भी बताया गया है 'सतत सम्भोगमें श्रीकृष्ण-गन्धधारी वस्तु तककी स्थिति।' पर उपरोक्त उदाहरणमें कृष्ण कहीं राधाके आस-पास भी नहीं हैं। तब यह मादनका उदाहरण कैसे हो सकता है? उत्तर यह है कि राधाको जब पुलिन्द-कन्याओंका दर्शन हुआ, उस समय यद्यपि श्रीकृष्ण अपनी सखियोंकी दृष्टिमें राधाके पास नहीं थे, आविर्भावमें वे राधाके साथ साक्षात्-सम्भोगमें लिप्त थे। आविर्भावित रूप सबकी दृष्टिमें नहीं आता। उस समय मादनने अपने प्रभावसे राधाको श्रीकृष्णकी स्मृति होनेपर उन्हें सहसा आविर्भूत करा दिया था और वे उनके साथ अनन्त प्रकारके सम्भोग और सम्भोगमें ही अनेक प्रकारके वियोगका साक्षात् अनुभव कर रही थीं। वियोगके कारण ही वे तृष्णामयी उक्तिमें पुलिन्द-कन्याओंके भाग्यकी प्रशंसा कर रही थीं।

---

१. पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥

—भा. १०।२१।१७

मादनकी एक विशेषता यह है कि इसमें मोदनकी तरह 'मोद' या हर्ष तो होता ही है, मादनकी मत्तता भी होती है, जो मोदनमें नहीं होती। मादन श्रीराधाका स्वरूपगत भाव है, उनमें नित्य विराजित है—कभी प्रकाश्यरूपसे, कभी प्रच्छन्न रूपसे। जब राधाका श्रीकृष्णसे मिलन होता है, तब मादन प्रकाश्यरूपसे रहता है; जब मिलन नहीं होता, तब प्रच्छन्नरूपसे रहता है।

मधुर-रस और काम

श्रीचैतन्य-चरितामृतमें श्रीकृष्णके विभिन्न प्रकारके परिकरोंकी प्रीतिकी सीमा निर्धारित की गयी है। तदनुसार शान्त-रसकी सीमा है प्रेमकी पूर्व सीमा अर्थात् रति पर्यन्त, दास्यकी रागकी शेष सीमा पर्यन्त, सख्यकी अनुराग पर्यन्त, वात्सल्यकी अनुरागकी शेष सीमा पर्यन्त, और मधुरकी महाभाव पर्यन्त।[1]

इस प्रकार मधुर-रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। पर इसके सम्बन्धमें आधुनिक जड़वादसे प्रभावित विद्वानोंमें, या उनमें, जो प्राकृत और अप्राकृतके भेदको ठीक तरह नहीं

---

१. शान्तरसे शान्तरति प्रेमपर्य्यन्त हय।
दास्यरति रागपर्य्यन्त क्रमे त बाढ़य॥
सख्य-वात्सल्य (रति) पाय अनुराग सीमा।
सुबलाद्येर भाव पर्य्यन्त महिमा॥
—चै. च. म. २३. ३४, ३५

समझते, कुछ भ्रांति है। अप्राकृत रस और प्राकृत रसमें तथा गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओं और प्राकृत नायक-नायिकाओंकी क्रियाओंमें बाह्य दृष्टिसे साम्य होनेके कारण कुछ लोग गोपियोंके कृष्ण-प्रेमको कोरी कामुकतासे भिन्न और कुछ माननेको तैयार नहीं। उनका मत है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर-लीला अभद्र (vulgar)[1] और अनैतिक (immoral)[2] है और भक्तों द्वारा इनका चिन्तन एक प्रकारका कामोन्माद (sensual delirium)[3] है। एस.के.दे (S.K.De) के अनुसार यह चितनके सूक्ष्म स्तरपर परोक्षरूपमें कामुकताका नङ्गा नृत्य है।[4]

पर स्वयं डा० दे ने स्वीकार किया है कि जहाँ तक श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्रीरूप-सनातनादि उनके पार्षदोंका प्रश्न है, जो श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंके चिंतनमें विश्वास रखते थे, उनका बाह्य आचरण नैतिकताका चरम आदर्श था। पर उनका कहना है कि चिंतनके स्तरपर वह कामुकतासे परिपूर्ण था। इससे स्पष्ट है कि उनके विचारमें मनुष्यके आचार और विचार उसके व्यक्तित्वमें दो ऐसी इकाइयोंसे सम्बन्धित हैं,

1. E. W. Hopkins, *Ethics of India*, Yale University Press, New Haven, 1924, p. 200.
2. John Mckenzee, *Hindu Ethics*, pp. 77-78.
3. Barth, *Religiones of India*, p. 228.
4. S. K. De. *Early History of Vaisnava Faith and Movement in Bengal*, p. 418-19.

जिनका एक-दूसरेसे कोई सम्बन्ध ही नहीं। मनोविज्ञान-की दृष्टिसे यह एक भूल है। आचार और विचार मनुष्यके समूचे मस्तिष्ककी इकाईके बाह्य और आन्तरिक अभिव्यंजक हैं। यह सम्भव ही नहीं कि किसी मनुष्यके आचार और विचारकी गति एक-दूसरेके बिलकुल विपरीत हो, आचरण बिलकुल स्वच्छ हो और विचार बिलकुल भ्रष्ट। श्रीमन्महाप्रभु, श्रीरूप-सनातन और श्रीरघुनाथदास आदिने अतुलनीय ऐश्वर्य और सांसारिक भोग-विलासकी अपरिमित सुविधाओंका स्वेच्छापूर्वक परित्याग इसलिए नहीं किया था कि वे इनका मानसिक चिंतन करें। वे अपने उपदेशों और ग्रन्थोंके माध्यमसे इस बातपर बार-बार बल देते हुए नहीं ऊबते कि श्रीकृष्णकी व्रज गोपियोंके साथ मधुर लीलाएँ, जिन्हें वे चिन्तनका सर्वोच्च विषय मानते हैं, साँसारिक नायक-नायिकाओंकी प्राकृत काम-क्रीड़ा नहीं हैं। वे उनकी अपनी ह्लादिनी शक्तिकी मूर्तिरूपा व्रजाङ्गनाओंके साथ उनकी अप्राकृत लीलाएँ हैं। आनन्दमग्न शिशु जिस प्रकार अपनी ही परछाँईसे खेलता हुआ किलकारियाँ मारता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अतिशय आनन्दके उच्छ्वासमें अपनी ही ह्लादिनी शक्तिकी मूर्त्तियोंसे विविध प्रकारकी मधुर लीलाएँ करते हैं। उन्हें काम इसलिये कहते हैं कि उनकी बाह्य चेष्टाएँ प्राकृत नायक-नायिकाओंकी काम-क्रीड़ाके समान हैं। तत्वतः दोनोंमें आकाश-पातालका अन्तर है। अप्राकृत वृन्दावनका काम अप्राकृत काम है, जिसका

वास्तविक अर्थ है प्रेम। काम निविड़ अन्धकार है, प्रम निर्मल भास्कर—

अतएव कामे—प्रेमे दहुत अन्तर।
काम अंधतमः, प्रेम निर्मल भास्कर॥
(चै. च. आ. ४. १४७.)

काम आत्मसुखाभिलाषी है, प्रेम कृष्णसुखाभिलाषी—

आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा—तारे बलि 'काम'।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा—घरे प्रेम नाम॥
(चै. च. आ. ४.१४१)

गोपियाँ कुलमान, मर्यादा स्वर्गसुखाभिलाष और दुस्त्यज लोक-धर्म, वेद-धर्म आदिका तृणके समान त्याग कर देती हैं, केवल कृष्णके सुखके लिये। उनका प्रेम केवल लौकिक प्रेमका आदर्शरूप ही नहीं है। यह अलौकिक प्रेम है, जिसमें लौकिक प्रेमकी आत्मसुखाभिलाष और कुत्सित विषय-लोलुपताकी गन्ध भी नहीं है। लौकिक निजेन्द्रिय-अभिलाष-युक्त प्रेम हृदयकी कलुषताको बढ़ाने वाला और भगवत्-पथ-विरोधी है, गोपियोंका प्रेम हृदयको निर्मल करने वाला और जीवनकी सर्वोच्च आराध्य वस्तु है। प्रेमके विभिन्न स्तरोंकी उपरोक्त व्याख्यामें जो प्रेमके लक्षण बताये गये हैं, उनसे भी स्पष्ट है कि गोपी-प्रेम और काममें कितना अन्तर है।

गोपी-प्रेममें प्राकृत काम-वासनाका तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि गोपियोंके देह और इद्रिन्याँ अप्राकृत

सच्चिदानन्दमय हैं और उनके हाव-भाव कर्मादि भी अप्राकृत हैं। हम गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंको प्राकृत काम-क्रीड़ा इसलिये समझ बैठते हैं कि उनके बाह्य दृष्टिसे प्राकृत काम-क्रीड़ाके समान होनेके कारण और उनका वर्णन करनेके लिये हमारे पास दूसरी भाषा न होनेके कारण, हम उनका वर्णन उसी भाषामें करते हैं, जिसमें साधारण काम-क्रीड़ाओंका करते हैं।

बाह्य दृष्टिसे प्राकृत काम-क्रीड़ा और अप्राकृत प्रेम-विलासमें साम्य स्वाभाविक है, क्योंकि प्राकृत जगत् चिज्जगतका प्रतिफलन मात्र है। इस सम्बन्धमें विशेष गूढ़ बात यह है कि प्राकृत जगत्की प्रतिफलित प्रतीति विपर्यय धर्मको प्राप्त होती है और उसमें चिज्जगत्की प्रत्येक वस्तुकी प्रतीति उलटी होती है, उसी प्रकार जिस प्रकार पानीमें मनुष्यके देहके प्रत्येक अङ्गकी प्रतीति उलटी होती है। चिज्जगतमें जो सर्वोत्तम है, प्रतिफलनमें वह सर्वाधम है। जो लोग प्रतिफलित जड़-जगत्के आधार पर चिज्जगत्की कल्पना करते हैं, छायाके आधार पर कायाकी कल्पना करते हैं, उनके लिए स्वाभाविक है कि वे चिज्जगत्की सर्वोच्च और सर्वाधिक उपादेय वस्तुको सबसे हेय और सबसे हेय वस्तुको सबसे उपादेय समझें। चिज्जगत्की परम वस्तुमें जो अद्भुत विचित्रतागत, मधुरातिमधुर लीलागत अति चमत्कारितामय सुख है, वही परम रस है। जड़बद्ध जीव जड़बुद्धिके आधार पर

उस विचित्रतापूर्ण जगत्‌में औपाधिकत्वकी और निर्विशेष, निष्क्रिय सत्ताकी परम सत्ताके रूपमें कल्पना करता है। चिज्जगत्‌के निम्नतम भागमें शान्तरसरूप निर्गुण ब्रह्म-लोक है, उसके ऊपर दास्यरस और वैकुण्ठ, उसके ऊपर गोलोकका सख्यरस, उसके ऊपर वात्सल्यरस, और उसके ऊपर मधुररस। जड़-जगत्‌में विपर्यस्त मधुर-रस सबसे नीचे है, वात्सल्यरस उससे ऊपर, सख्यरस उससे ऊपर, दास्यरस उससे ऊपर और शान्तरस सबसे ऊपर। इसलिए जो लोग अपने जड़-स्वभावका आश्रय लेकर चिज्जगत्‌की रसवैचित्रीके सम्बन्धमें विचार करते हैं, उनके लिए मधुररसको हेय मानना स्वाभाविक है। वस्तुतः चिज्जगत्‌में मधुररस शुद्ध, निर्मल और अद्‌भुत माधुर्यसे परिपूर्ण है। उसकी निर्मलता इस बातसे भी सिद्ध है कि चिज्जगत्‌में केवल कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं और सब भोग्य हैं। जड़-जगत्‌में कोई जीव भोक्ता है, कोई भोग्य। यह तत्त्वतः जीवके स्वभावके प्रतिकूल है। तत्त्वतः जीवमात्र प्रभुका भोग्य है। इसलिए जिस रसमें जीव भोक्ता है, वह रस ही नहीं। वह तो जड़ीय स्त्री-पुरुषके जड़-देहसे सम्बन्धित अत्यन्त घृणित और लज्जा-स्पद व्यापार मात्र है।

अप्राकृत वृन्दावनके अप्राकृत काम या उज्ज्वल शृङ्गाररसको तब तक समझना कठिन है, जब तक हम अपने जड़ीय संस्कारोंसे मुक्त नहीं हो जाते। तब तक उसका मूल्यांकन उन ऋषियोके वाक्योंकी कसौटी पर

ही करना उचित है, जिन्होंने मुक्तावस्थामें उसका अनुभव किया है। शुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी मधुर-लीलाका प्राकृत काम-क्रीड़ा होना तो दूर, वह प्राकृत काम-रोगसे मुक्ति पानेके लिए एक महौषधिके समान है—

विक्रीडितं व्रजबधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्शृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(भा० १०.३३.४०)

यदि गोपियोंके कृष्ण-प्रेममें प्राकृत कामकी गन्ध भी होती, तो श्रीकृष्णके परमप्रिय उद्धव जैसे ज्ञानी भक्तने, जो गोपियोंको ज्ञानका उपदेश करने वृन्दाबन गये थे, स्वयं गोपी-प्रेमकी कामना क्यों की होती ? स्वय श्रुतियोंने मधुर-रसका आस्वादन करनेके लिये गोपियोंके रूपमें वृन्दावनमें जन्म क्यों लिया होता ? मरणासन्न राजा परीक्षित और सहस्र-सहस्र ऋषि-मुनियोंकी सभामें श्रीशुकदेवने भी तब उसका वर्णन क्यों किया होता ?



प्रस्तावना

लौटे जब राजानन्द
छोड़ मथुरामें अपने आनन्दकन्द ,
तब से वे और व्रजरानी
दोनों निष्प्राण, निरानन्द !
शोकाकुल दोनों जन ,
बस क्रन्दन ही क्रन्दन ,
हा-हुतास, निस्पन्दन ;
स्वप्न में या जागरण में ,
अन्तर में, या बाहर में
एक ही स्फुरण, एक ही चिन्तन–
'हा यदुनन्दन ! हा यदुनन्दन !'

देख कृष्ण-शून्य शय्या
हुई बावरी मय्या ;
उठी करती हा-हाकार ,
कहती पुकार बार-बार—
'कहाँ, कहाँ मेरा नीलमणि ,

कहाँ नवजलधर श्याम ,
कहाँ बन्सीधारी ,
त्रिभङ्ग जिसकी ठाम ? !'
कहाँ मेरा जीवन-धन ,
नव-इन्दीवर ,
कहाँ चन्द्र-बदन
गोपाल गिरिधर ?!'
मलिन मुख, मलिन वेश ,
बहता नेत्रोंसे अश्रु-निर्झर ,
बिखरे केश , धैर्यका नहीं अवशेष ,
कोसती विधाताको
छाती पीट-पीट कर !

विरहकी दावाग्नि ब्रजमें
चहुँ ओर दहक रही है ;
ग्वाल-बाल और ब्रज-बनिताओंको ,
पशु-पक्षी और तरु-लताओंको
अहर्निशि दह रही है ।

नन्दालय

(माँ यशोदा और सखियां)

यशोदा– अरे दारुण विधि !
ये कैसी तेरी विधि ? !
देकर अपनी वस्तु क्या कोई ले लेता उसे ?!
ओ दत्तअपहारी ! लज्जा न आती तुझे ?!
होकर विधि करता अविधि !
पहलेकी वस्तु दान ,
जिसके नहि कुछ समान ;
फिर हर लिये प्रान
अबला, असहाय जान !
ओ , चार मुख वाले !
क्या यही है तेरा विधान ? !

कर कितना-कुछ साधन ,
शिव-गौरी आराधन ,
पाया जो मनचाहा धन ,
क्यों हर लिया तूने , बोल
मेरे किस दोषके कारण ?

खोकर कृष्ण-धन
अब कौन ऐसा जन ,
जिसे देख दुःखिनी
जुड़ाये जीवन ?

मेरा ही नहीं , वह तो
सारे व्रजका धन ,
गोकुलके अम्बर पर उदित काला चाँद ,
जन-जनके मन-मानसमें जिसकी
शीतल किरणोंका विस्तार ,
उसे उदित करा मथुरामें
किया गोकुलमें अन्धकार !
रे शठ ! क्यों दिया उजाड़
तूने व्रजका सारा श्रृङ्गार ?

मनमें थी कितनी साध ,
कितनी उमङ्ग, कितना आनन्द !
हाय ! कर दिया तूने
सब नीरस, निरानन्द !

क्या कहा ? !
तेरा नहीं कसूर, दोषी अक्रूर ? !

नहीं, तू ही, तू ही है क्रूर ;
बनकर अक्रूर
ले गया दूर
हमसे हमारा प्राणघन,
हमारा तन, हमारा मन,
हमारे जीवनका जीवन ।

सखी– यशोदे ! निश्चय ही आयेगा युवराज
पूरा कर मथुराका काज ।
फिर क्यों हो रही ऐसी ?
तू क्या महिषी ऐसी-वैसी ?
गाम्भीर्यमें सागर सी, धैर्यमें बसुमती ;
त्रिभुवनमें कौन तुझसी बुद्धिमती ?
जब धरनीका होता कम्पन ,
तब स्थिर रहता न कोई जन ।
वैसे ही तेरे दुःखसे दुःखी सर्वजन ।
पिघले पाषाण भी सुन तेरा विलाप,
धैर्य धर ब्रजेश्वरी, मिटें सन्ताप ।

यशोदा– सखी, कैसे धरूँ धैर्य ?
अपने ही दोषसे खोया जो अपना धन !

हाय ! मैंने क्या किया ? !
पाया धन खो दिया !

कौन था अक्रूर, कहाँका अपना,
जिसे दे दिया नीलमणि अपना ? !
हाय ! मेरी मत मारी गयी ;
क्यों न मैं ही मर गयी ?
क्या कहेंगे लोग आज ?
जो था मेरा सिर-ताज,
जिसे रखा था पलकोंपर,
उसे अपने ही हाथों बिदाकर,
आ गयी अपने घर !
वह घर नहीं अब फाँसीघर,
जहाँ, आते-जाते बाहर-भीतर
रहता वह आगे-पीछे,
मेरी धोतीका आँचल धर,
कहता 'माँ ! लोनी दे',
जहाँ अब वह सिर-ताज नहीं,
कोकिल-सी आवाज नहीं,
पड़ा नवनीत अवनीपर !

व्रज-पथ

(सुबल)

सुबल– ओ ! दाम , सुदाम , वसुदाम भाई !
गोचारणकी बेला आई ।
चलो चलें बन ले प्राण कन्हाई ।
कहां गये सब, क्यों देर लगाई ?

(श्रीदामादि सखाओंका प्रवेश)

श्रीदाम– 'भाई-भाई' की रट लगाई ।
कहाँ अब राम, कहाँ कन्हाई ?
कन्हाई बिन कहाँ वह बल ?
कन्हाई बिन सब हुए अचल !

बोल, बोल न भाई सुबल !
कैसे जायें बन, किस कारण ?
कैसे करें जा गोचारण ?

बिना कृष्ण गुणधाम, सुखमय वृन्दावन-धाम
हुआ सुखविहीन, श्रीहीन, दुःख-धाम ।

पुकार मत भाई 'श्रीदाम, श्रीदाम' ;
प्राणहीन सब, केवल नाम ।

गइयों और बछड़ोंके सूखे तन, टूटे मन,
मुखसे न तोड़ें तृण, पड़े जैसे अचेतन !

कहाँ दादा बलराम, कहाँ प्राण-कन्हाई,
लूट-लूटकर खाना माखन-मिसरी और मलाई?
कहाँ मोरों जैसा नृत्य, वानरों जैसी कूद-फाँद ?
कहाँ वीर हनुमान, राम-रावणकी लड़ाई ?
कहाँ चाल मस्तानी, जो कृष्णने सिखाई ?
कहाँ तान मुरलीकी, जो अब न आये सुनाई ?

किसे लेकर बन जायें ?
किसे ले बन-फूल सजायें ?
किसे देख प्राण जुड़ाएँ ?
किसे दुःखकी कथा सुनाएँ ?
अब रखा ही क्या बनमें ?
रखा क्या जीवनमें ?
नहीं बन हम जायेंगे ,
नहीं गायें चरायेंगे ।

नहीं खायेंगे, खेलेंगे ,
यूँ ही प्राण गवाएँगे ।

सुबल—आज निशिके अवसानमें ,
कन्हाईकी मधुर यादमें ,
मैं जब हो गया अचेतन ,
उसने आकर मेरे पास
मूँदे मेरे नयन
अपने कर-कमलोंसे
और कहा कानमें धीरेसे
'बोल, सुबल मैं कौन जन ?'

हाथोंके कोमल स्पर्शसे,
वांणीके मधुर गुंजनसे
लिया मैंने पहचान उसे
और कहा कम्पित स्वरसे
'नटखट श्रीनन्दनन्दन !'

आकर तब सम्मुख हँसते-हँसते ,
प्रेमसे आलिङ्गन करते ,
पूछा उसने डरते-डरते—

'कैसे थे तुम ग्रौर सब साथी ?
पीछे मेरे तुम्हें क्या हो गया था ?'

तव स्पर्शसे पाकर चेतन
खोले जो मैंने नयन ,
वह छलिया न जाने कहाँ छिप गया था !

सोचा मैंने कि रुक न सका वो ,
गया देखने तुम सबको ;
तो बताग्रो तुम सब
देखा तुमने छलियेको ?

ग्वाल-बाल—सुन सुवल भाई ,
तेरे भाग्यकी जायें बलाई—
तुझे दीखा प्राण-कन्हाई !
आलिंगन कर दिया मधुर स्पर्श !
घोला कानोंमें वाणीका अमृत सहर्ष !
आ , तुझे गले लगायें ,
स्पर्श कर धन्य हो जायें ,
प्राण जुडायें ।

हाय रे ! सुबल , तूने पाया खोया-धन ,
खोया भी पाया धन ,
वह अमूल्य रतन , बंसी-बदन !
हाय ! जब उसने कर-कमलोंसे
किये तेरे नेत्र वन्द ,
क्यों न पुकारा तूने हमें तुरन्त ?
फिर यदि आये कभी ,
भूल न जाना बन्धु ,
पुकारना हमें तभी ;
उमड़ पड़ेंगे हम सभी ।
कोई डाल बाँह गले ,
कोई पड़ चरण तले ,
जाने न देंगे उसे कभी ।

श्रीराधा-निकेतन

(विषण्ण भावमें बैठी श्रीराधा)
(सखियोंका प्रवेश)

सखियाँ–उठ भानु ललो ,
क्यों बैठी यों ,
जल बिन मछली
सूखे सागरमें ज्यों ?
उठ , कमलिनी , विनोदिनी , चिरसंगिनी
मत बैठि रहे विषण्ण एकाकिनी ।

राधिका–सुन , सुन प्रिय सहचरी ,
बिन आये बन्धु , बिन मौत मरी ।
मिटी न मनकी साध ,
देकर दुःख अगाध
श्याम गये मधुपुरी ।

गये, पर आनेकी कह गये ,
वियोगके अथाह समुन्दरको
आशाके बाँधसे बाँध गये ।

आशाका भी टूटा बाँध ,
तो बता सखी, क्या करूँ ?
कैसे धैर्य धरूँ ?

बन्धुके विरह-दाहमें अहरह दहे मन ,
दावानलकी आगमें जैसे दहे बन ।
दावानलकी आग तो बुझाते बादल ,
विरहानल बुझे न बिन श्याम-जल ।
झुलसना इस आगमें
लिखा जब भागमें ,
तो बता सखी इस भाग्यको क्या करूँ ?

यदि निकल जाते प्राण ,
तो पाती परित्राण
दारुण परिदाहसे ।
गये प्राण नाथ, तो भी न गये प्राण !
निष्प्राण प्राण लेकर
दिवा-निशि जरा करूँ ?

ओ ! अभागे प्राण !
स्मरण नहीं तुझे—

मन मन्दिरमें अपने
रख उसके चरणारविन्द
अर्चना की थी उनकी ,
उन्हींको सार जान ,
उन्हींको ध्येय मान ,
जब उन्हें पानेको ,
उनकी अपनी बन जानेको ,
अपना अपनापन भुटलानेको ,
तब समर्पण किया था मैंने
उन चरणोंमें मन और प्राण दोनोंको ।

मन तो गया साथ ;
तू क्यों रह गया अनाथ
मुझे दुःख देनेको ?
यदि जाता उनके साथ ,
तो रहता कितना शीतल !
रहकर इस देहमें ,
जिसमें धधकता विरहानल ,
सोच , ओ पापी प्राण !
पायेगा तू क्या फल ?

अरे मूढ़ ! निश्चय जान
वही है सब प्राणोंका प्रान ;
उसीके जीवनसे जीवन ;
उसीके आदरसे आदर ।
वो यदि करे अनादर ,
तो कौन करे समादर ?
अब भी ले उसे पहचान ,
छोड़ इस पिंजरको , मेरी मान ।
जा बस उन चरणोंमें ,
जो तेरे नित्य-धाम ,
जहाँ अनन्त सुख , अनन्त विश्राम !

विशाखा–छोड़ , छोड़ं न सखी
यह बातें बहकी-बहकी ।
कलह और कोढ़ बढ़ते उतना ही,
जितनी उनकी सेवा होती ।

राधिका–सखी, किससे कहूँ अपनी बात ,
अपना दुःख , अपना रोना ।
मनमें रही मनकी बात ;
कोई तो समझे ना ।

क्या कहूँ सखी उस सुखकी,
जिसमें सदा पगी रहती,
श्याम-प्रेम-सुख-सागरमें
मीन-सी डूबी रहती !

क्या जानती मैं कभी सागर सूखेगा,
कितना रसमय जीवन मेरा
तड़फ-तड़फ कर बीतेगा !

सुखके उस युगमें भी थे कितने दुर्जन,
जो करते रहते छिद्रान्वेषण,
शरद-भास्कर सम हो प्रखर-मुखर
देते कितना वे ताप !
तब श्याम नवजलधर होकर
रहता शीतल छायाकर
और लीलामृत वर्षण कर
मिटाता मनका ताप।
तैरती मैं रहती स्वच्छन्द
सदा सुखके सागरमें !

हाय ! सोख लिया सागर
अक्रूरने आकर

अगस्त्यकी तरह एक घूँटमें !
अब तृषित चातककी भाँति
रहती मेघको ताकती ।
सखी, रहा न जल अब एक बिन्दु,
डूबा सूखे सागरमें मेरे भाग्यका इन्दु !

मन-मन्दिरकी बेदीपर
था जिसे लिया बिठाय,
प्राण-पुष्पको चरणोंमें
जिसके था दिया लुटाय,
उसीने जब निष्ठुरतासे
दासीको दिया दुराय,
तो बता सखी, जीना किसे सुहाय ?

अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?
कहाँ जाकर उसे पाऊँ ?
बोल न झट उपाय,
प्राण अब जाय, अब जाय !

(ललितासे) सुन ललिता कल्याणी,
तेरी कही तब एक न मानी ।

तभी कहा था तूने मुझसे
मत कर प्रीति कालेसे ;
क्या जाने प्रीति यह गाँवका ग्वाल ,
प्रीतिमें इसकी रोना चिरकाल ।
अब हुआ वही जो था होना ,
रह-रहकर पछताना , रोना-धोना ।

ललिता–धर धैर्य सखी , मत बावरी बन ;
कभी तो उसके मन
होगा तेरा स्फुरन ।
तभी होगा उसका यहाँ आगमन ।
तेरे सौभाग्य परबका तब होगा उदय ।
स्थिर हो सजनी , मना अपना मन ।

राधिका–सुनो प्रिय सखीगण ,
मेरा यह नम्र निवेदन—
बिन देखे मनमोहन
माने कैसे मन ?

जो मानी होती ललिताकी बात
लगती क्यों हृदयको लात ?

दे छोड़ा जिसे अपना मन ,
छोड़ गया वह वृन्दावन !
रहा ही नहीं जब प्राण-धन ,
तो जैसा घर जैसा बन ,
जैसा जीना , वैसा मरना ;
जैसा करना , वैसा भरना ।
अब तो मरकर ही जीना है ,
जीकर क्या मरना है ?

सखो , तुम्हारे पड़ूँ पाय ,
करो शीघ्र वह उपाय ,
जिससे तुरत प्राण जाय ,
प्राण जाय तो प्राण आय !
सखी, गरल खाकर मरूँ ,
या विषधर धरूँ,
अग्निमें प्रवेश करूँ ,
या कालिन्दीमें कूद पड़ूँ ?
बताओ सखी क्या करूँ, कैसे करू
कैसे झट प्राण तजूँ ?

सखियाँ–सुन, सुन, ओ राधिके, प्राणाधिके !
हमारे प्राणोंकी भी प्राण तू ,
जीवनका सब सार तू ,
हमारी नइयाकी पतवार तू ।
तुझे देखकर जीती हम ;
बिन देखे मर जाती हम ।
जब तू ही न रहेगी ,
तो जियेंगी किसे देखकर हम ?
किसके कान्त न जाते अंत ?
कौन कर देती जीवनका अंत ?

सखी , दुःखके दिन फिर जायेंगे ,
कान्त लौट घर आयेंगे ।
मत हो अधीर कान्त बिन ,
उदय-अस्त होता सब दिन ।

ललिता–सखी ! तू ही न है श्याम-आह्लादिनी ,
श्याम-सुहागिनी , श्याम-मनमोहिनी ।
तुझे तज क्या वह जाय कहीं ?
रहे सदा ब्रज , वन , बीथिन मांहि ।
कहे मेरा मन , सुनो सखी जन ,

गया न कहीं बंसी-बदन ;
छिप बैठा कहीं वृन्दावनमें ।
चलो ढूँढ़ें उसे कुञ्जनमें ।

जनमका वह चंचल छलिया
जाने क्या प्रीत निभाना ।
याद नहीं क्या उसका
रास-रजनीमें बंसी बजाना ,
बंसी बजाकर हमें बुलाना ,
रास रचाना और छिप जाना ?

राधिका—सखी ! क्या कहा ? !
कह न फिर एक बार ।
सोचती मैं भी तो यही बार-बार—
वह छलिया गया कहीं नहीं है ,
कदाचित यहीं कहीं है ।

यदि गया है कहीं , तो दीखता क्यों है
शयनमें , स्वपनमें , जागरणमें ,
बनमें , भवनमें , उपवनमें ?
जब बैठती एकाकी नयन मूँद कर

तो देखती सामने खड़ा नटवर
कहते प्यारसे चिबुक धर--
' राधे ! चन्द्रानने ! देख एक बार ;
खड़ा तेरे सामने तेरा प्यार ।'
जब देखती खोल आँखें , न देखती उसे ;
देखती केवल ग्रन्धकार !

क्या जानूँ सखी , यह कैसा देखना !
देखना है कि नहीं देखना !
देखकर न देखना ,
देखे बिन देखना !

खेल आँखमिचौनीका
सदासे उसे प्यारा है ;
कभी आता सामने ,
कभो होता न्यारा है ।

चलो सखी , देखें
वह है कहीं वनमें , उपवनमें ,
गिरि गोवर्धनमें , लताओं-पताओंमें,

व्रज-बीथियोंमें , बाटिकाओंमें,
कालिन्दी-कूलमें , कन्दराओंमें ।
(राधिकाका गमन , सखियोंका अनुगमन)

ललिता–(सखियोंसे) आहा ! सखी देख ,
कृष्ण-वियोगिनी , कृष्णान्वेषणी ,
कृष्ण-प्रेम-खनी , पागलनी ,
वह जा रही कमलिनी ,
कृष्ण-प्रेम-बयारमें उड़ी पँखड़ी सी ,
श्याम-घन-ध्यानमें दामिनीसी !
बिखरे बसन , बिखरे केश ,
मलिन बदन , मलिन वेश ,
कृश कनक-कामिनी सी ,
प्रेमकी मारी , अधमरी सी ,
श्याम-मिलनको सिंहनी सी !

राधिका–हा ! श्यामसुन्दर ! मुरलीधर!
सुन्दरवर ! करुणाकर !
करुणा कर इस दु:खिनीपर ,
प्रेम-दस्यु-दलित इस दासीपर ।

सखीगण–धीरे-धीरे चल गज-गामिनी ,
मत हो उतावली स्वामिनी ।
बन सघन है ,
काँटों और भुजङ्गोंका भय है ,
अभिषिक्त तेरे आँसुओंकी धारसे
पथ पिच्छल है ।

राधिका–किया था प्रेम जब ग्वाले गोपालसे ,
लिये थे कितने नेम बड़े उत्साहसे ,
उस जैसी बननेको ,
उसके साथ बन-बन फिर सकनेको ।
आँगनमें उड़ेल जल ,
उसे कर अति पिच्छल
उसपर चलना सीखा था ;
अँधियारी रातोंमें पथपर बिछा काँटे
उनपर भी चलना सीखा था ,
और सीखा था चलना बचकर भुजङ्गोंसे ,
तन्त्र-मन्त्रके बल
तन्त्र-मन्त्रके गुणी ओझाओंसे ।

वन

(श्रीराधिका और सखियाँ)

राधिका–(काननमें प्रवेश कर)

देख सखी यह कानन ,
यह क्या कानन लगता है ?
बिन देखे कृष्णानन
कैसा उजड़ा-उजड़ा लगता है !
आम्र , शीशम , साल , रसाल ,
बट , बबूल , ताल , तमाल
सब लगते कैसे विकराल ,
पत्र-पुष्पहीन सूखे कङ्काल !

यहाँ कुसुमित लता-पुञ्जमें ,
पुञ्ज-पुञ्जमें , कुञ्ज-कुञ्जमें ,
गूँजा करते अलिराज ।
अब वे भ्रमण-भ्रमरी
नित मौन धरि
कहते यहाँ नहीं रसराज ।

(तरु लताओंको देख)

हाय ! वही कानन, वही वंशोवट,
वही कदम्ब, वही जमुना-तट ;
पर नहीं मदन-मोहन,
नहीं मुरलीका मीठा स्वर !

यहीं न श्यामसुन्दर गइयें चराता था,
सुनाकर मधुर मुरली गोपियाँ बुलाता था।
बुलाकर इस तरह उनको
हाट चाँदोंका लगाता था।
यहीं समाज गोपोंका
नित्य था जुटता ;
खड़े त्रिभङ्ग मोहनको
रङ्ग-रङ्गके फूलोंसे
सजाया नित्य करता था।

हा नाथ ! हा रमण ! हा प्राणबन्धु !
हा कृष्ण, हा चपल ! हा करुणैकसिन्धु !
कहाँ प्राणनाथ, मुरली बदन !
कहाँ गुणनिधि, इन्दुबदन !
कहाँ भावनिधि, नवघनश्याम !
कहाँ प्राणेश्वर, नयनाभिराम !

ओ कदम्ब ! ओ बटराज !
बताओ, कहाँ नटराज !
ओ मालती ! ओ कुन्द-लतिके !
ओ कनक-चम्पे ! लवँग-लतिके !
देखा तुमने कहीं रसराज ,
आते-जाते , लुकते-छिपते ,
तुम्हारी किसी अली-कलीको
देखते , दुलारते , चूमते , चिपटाते ?

ललिता–(स्वगत—राधिकाको रोते देख)
हाय रे विधाता ! तू इतना कठोर ,
इतना बाम !
श्रीकृष्ण-प्रेमका यह परिणाम !
राजनन्दिनीका उन्मादिनी हो
तरु-लताओंसे बातें करना !
करते-करते बातें उनसे सिसकी भरना ,
बिलख-बिलख कर रो पड़ना !

राधिका–सुन सखी चम्पकलता ,
याद है न तुझे बता—
उस दिन श्यामसुन्दरने
लिया जब फूल चम्पकका निज कर में ,

तो देख उसका पीत वर्ण ,
उसकी सुन्दरता और कोमलता
बढ़ी जो उसकी व्याकुलता ,
कहा सुबलसे उसने—
' कहाँ राधा ? कहाँ राधा ? '
कहते-कहते बेसुध हो
भू पर पड़ गया वो !

देख उसकी यह दशा
सुबल भाग कर आया ,
कही मुझसे रो-रोकर ,
रुँधे कण्ठसे रुक-रुककर
सारी कथा ।

सुनते ही बन्धुकी व्यथा
मुझे लगा कि एक तीर
उरको लगा और पार हो गया ।
चाहा उड़ जाना बन्धुके पास तुरन्त ,
तो सोचा एक उपाय—
लिया दूसरा भेष बनाय ,

जिससे न रहे विघ्न , न रहे बाधा
मैं बन गयी सुबल , सुबल बना राधा ।

गयी जो वहाँ सुबल बनकर ,
तो देखा क्या वहाँ जाकर—
पड़ा धूलमें बेसुध मेरा गिरिधर !
कहीं चूड़ा, कहीं वंसी , कहीं पीताम्बर ,
बिखरे सब इधर-उधर !

झट उठा उसे लिया हियसे लगा ।
मुख चूम उसका और धोकर उसे
प्रेम के पवित्र आँसुओं से
पोंछ अपने आँचल से उसको दिया ।

हिय से हिय का हुआ जो स्पर्श
तो आयी चेतना
और लगा कहने यूँ मुझे देखकर—
'सुबल ! यह क्या तूने किया
यहाँ आकर, इस शुभ क्षण में ?!
कहाँ गयी राधा तुझे देख कर ?
अभी तो थी वह मेरे अंक में !'

तब आये मुख पर मेरे
एक साथ आँसू और हँसी ;
मैंने उसे अंक में
और भी निकट समेट लिया
और कहा—'देख प्यारे ,
यह सुबल है या वही ,
जो थी तेरे अंक में ,
लिये तुझे अंक में, तेरी प्रेयसी ?'

सखी ! क्या यह हो सकता कभी
कि जो देखकर ,
मुझे नहीं , मेरे रंग को
किसी फूल में ,
भूल जाता मेरी याद में
स्वयं अपनी याद भी ,
वह जाय भूल मुझे , ऐसे जैसे
मैं उसकी कोई थी ही नहीं कभी
और छोड़कर मुझे जाय चला कहीं ,
जैसे छोड़ ज्योति को जाय चाँदनी ? !
नहीं , वह गया नहीं है ,

यहीं कहीं है ।
बता चंपकलते , वह कहाँ है ?
(निकुंज बन में प्रवेश कर)
देखूँ यहाँ , इस कुंज में ;
यहाँ तो नहीं , उस कुँज में ?
हाय ! यहाँ भी नहीं !
इस कुंज में , उस कुँज में ,
लताओं-पताग्रों में ,
झाड़ियों-झरोखों में ,
उनके कानों-कानों में ,
कहीं तो नहीं है !
हाय ! यही है न वह निकुंज , जिसमें
चन्द्रमा की किरणों से दमकती ,
रंग-रंग के पुष्पों के सौरभ से महकती ,
रंगीली , रसमयी , रजनी में
रसिकशेखर रसकी उमंग में
ले बैठाता मुझे अंक में ,
डुबाता मुझे और अपने ग्राप को
तरह - तरह के रस-रंग में ,
सजाता मुझे अपने कर-कमलों से

भाँति-भाँति के कुसुमों से ;
सजाकर देखता रहता निर्निमेष
बड़े प्यार से मुझे ;
चाहता कहना कितना कुछ,
पर कह न सकता उतना,
कहता जितना उसका देखना अपलक,
अश्रु, कम्प और पुलक ?

ललिता– (विशाखा के प्रति)
विशाखे ! देख, राधे स्थिर हो गयी !
सहसा कैसी इसकी दशा हो गयी !
भाव - तरंग कैसी नयी
खेल इसके हृदय में गयी !
खड़ी नीरव, निस्पन्द
न जाने क्या सोच रही !

विशाखा–सुन सखी ललिते ! लगता है उसने
सारस-ध्वनि का श्रवण किया है,
बंसी-ध्वनि का उद्दीपन हुआ है ।

राधिका–सखी ! दूर, अति दूर कहीं
मोहन की मुरली बज रही है ,

मधुर सुर में, मेरे कर्ण में
'राधे, ओ राधे !' कह रही है !
सखी ! कान में नहीं,
प्राण में बज रही है !
कान जैसे सुन रहे हैं,
प्राण जैसे खिच रहे हैं !
सखी, चल, देर न कर, चल,
बंसीधर बुला रहा है।
बिन देखे उसे अब एक पल
रहा न मुझसे जा रहा है।

ललिता– देख, सखी विशाखिके !
अब उसकी दृष्टि मेघ पर टिकी है ;
उसे देख कैसी स्तब्ध हो खड़ी है,
जैसे उसके हाथों बिन मूल्य बिकी है !

विशाखा–मेघ नहीं, ललिते !
मेघ की कालिमा में श्याम देख रही है !
इन्द्रधनुप में शिखि-पुच्छ-पंक्ति,
बक-श्रेणी में मुक्ताहार लड़ी,
विद्युत छटा में पीताम्बर देख रही है !

रोमाँचित हेम-तनु, प्रफुल्ल-बदन,
क्षुब्ध-देह, लुब्ध-मन, अनिमेष-नयन
मन-मोहन देख रही है !
राधिका—देख सखी ! देख न, बंसीधर
बजाता बंसी वह खड़ा है !
होकर सदय, करुणामय
व्रजाकाश पर उदय हुआ है !
(मेघ के प्रति)
आओ, आओ न निकट बन्धु !
बहुत दिनों में आये इधर
अरि-कुल पर विजय कर।
आओ, तुम्हारा जय-जयकार करें।
बिठाकर तुम्हें हृदासन पर
नयन-जल से चरन धोकर ,
पोंछ केशों से उन्हें ,
तुम्हारा कमल-मुख देख-देखकर
तुम्हें आलिंगन करें।
ओ, मोरपिच्छधारी बंसीधर !
सौदामिनी कान्तियुक्त पीताम्बरधर !
दलित-कज्जल-कलित, उज्ज्वल

सजल-जलद-सम श्यामल सुन्दर !
बकालि-सहित, इन्द्रधनुषयुत,
तणित-जड़ित-सम नव-जलधर !
तापित, तृषित व्रज-बनिताओं पर
नीलामृत वृष्टि कर शीतल कर।
भले आये बंधु, शुभ क्षणमें।
यदि आते न और एक पल भी,
तो जानते हो क्या होता हमें ?
रहते न प्राण किसी तन में !
तुम्हारी हैं अनेक रमणियाँ हम सी, बन्धु !
पर हमारे हो तुम ही एक प्राण-बन्धु,
जैसे दिनकर की हैं कमलनियाँ अनेक,
पर कमलनियों का है दिनकर बस एक।
जानते नहीं, बन्धु !
न रह सकतीं हम एक भी पल
बिन देखे तुम्हें,
कोसती रहतीं विधाताको
सदा पलकोंके लिये।
फिर आये क्यों देर कर इतनी ?
शोभा क्या यह देता तुम्हें ?

पर छोड़ो , जो हुआ सो हुआ ,
कहना क्या बीती बातों का ।
अब रख अपने कोटि-शशि-सुशीतल चरण
हमारे हृद-कमल पर
मिटा दो ताप तापित हृदय का ।
न रुलाओ हमें अब और
खड़े हमसे दूर रहकर ।
समझी, तुम मान कर रहे हो ।
जो किया था मान कभी मैंने ,
उसका प्रतिशोध कर रहे हो ।
तुम प्रेमी नहीं व्यापारी हो ,
प्रेम का व्यापार कर रहे हो !
व्यापारमें भो तो होता लेनादेना बराबरका।
रुलाया था तुम्हें मानकर हमने यदि ,
रुलाया कितना तुमने मधुपुरी जाकर हमें ।
अब रुलाकर और भी अकारण हमें
अनाचार कर रहे हो !
यदि किया नहीं प्रेम पहले कभी ,
तो किया क्यों प्रेम फिर हमसे ?

यदि करना था प्रेम ,
तो पाठ प्रेम का पढ़ा होता ।
पाठ पहला ही पढ़ा होता ,
तो जान लेते तुम
कि प्रेम में विनिमय नहीं होता ।
लिखा कौन से शास्त्र में
पुरुष होकर मान करना ?
नारीका कहते रहना, पुरुषका सुनते रहना,
न कह उत्तर में एक शब्द भी
नारीका इस तरह अपमान करना !
व्रजकी नहीं कभी यह रीति ;
नहीं चलेगी यहाँ यह नयी नीति ।
यदि करना है मान,
तो जाओ वहीं जहाँ सीखो यह रीति,
जाकर वहीं लगाओ
प्रीति की अपनी दुकान ।
(मेघ को जाते देख)
सखी! देख, चल दिया शठ, रमणी-लम्पट
अन्य किसी रमणी के निकट ।
यदि की है प्रीति नयी उसने

किसी नयी प्रणयनी बाला से ,
तो आया फिर यहां किसलिये ?
आकर और चले जाकर, हमें यह बताकर
हमारे विरहानलको और भड़काना था ,
इसलिये ?
हमारे अभागे प्राणोंको, जो पहले ही
जाने कह रहे थे ,
पर जाते-जाते रुक रहे थे
उसकी एक झलक और देख लेनेको ,
उन्हें बाँध कर ले जाना था
अपने साथ, इसलिये ? !
रुको-रुको बन्धु, छण भर के लिये ।
उचित नहीं तुम्हारा इस तरह जाना ।
जो आयीं शरण
तुम्हारी ही सेवाका व्रत लेकर
लोक-धर्म, वेद-धर्म को तिलांजलि देकर,
उनका अपने ही हाथों इस तरह
वध करना !
जाते हो तो जाना बन्धु ;
जहाँ भी हो जाना, वहाँ जाकर सुख पाना ;
पर टुक अभागिनीकी भी सुनते जाना—
हम मरें तो मरें भले ही ;
हमारे जीवनका क्या मूल ?

हमारे साथ मरेगा प्रेम भी ,
यह मत जाना भूल ।
निर्मल, उज्ज्वल , निष्काम प्रेम का
न रहेगा जग में नाम ।
कहेंगे सब यही—किया जो प्रेम
गोपियों ने ,
उसका हुआ यह परिणाम !
जाते हो तो जाओ बन्धु ,
जीवनकी इस शेष घड़ी में
कुछ कहते जाओ ।
कह न सको कुछ ,
तो देखते ही जाओ
एक बार मुखचन्द्र उठाकर
इस ओर ;
प्यासे ही न मुंद जायें कहीं सदाको
तृषित हमारे नयन चकोर ।
जाते हो तो जाओ बन्धु , !
देखते जाओ अपने नयन
अपनी प्रेमिकाओंका प्रेम-मरन !
(राधिका की मूर्च्छा)

सखीगण– (शशव्यस्त और सकातर)

अरी उन्मादिनी !
कहाँ गिरिधर ? किसका गमनागमन ?
जिसे रही देख, वह तो जलधर,
नहीं वंसीबदन ।
उठ-उठ, शीघ्र देख न उठकर ।
क्यों तजे कलेवर व्यर्थ विकल होकर ?

न रहेगी तू ही, ओ प्रेम-बल्लरी !
तो रहेगा कैसे वह तमाल-तरु,
अंग-अंगमें जिसके
आलिंगनकी तेरे आकुलता भरी ?
रहेंगी कैसे लताएँ-पताएँ हम,
तेरी सहचरी ?
पायेगी क्या प्रणयनी प्राण खोकर ?
पायेगी प्राण रखकर श्याम नटवर ।
यदि जायेगी चली प्राण देकर,
तो बता , सौंप जायेगी किसे श्यामसुन्दर ?
धैर्य धर राधे ,
मत ऐसी हो , थम ।
तुझे देख ऐसी क्या बचेंगी हम ?

ललिता–हाय , विशाखे ! असह्य यन्त्रणा !
शीघ्र कर मन्त्रणा, जिससे जाय यन्त्रणा ।

विशाखा–आओ ललिते, चेतन-मन्त्र पढ़ें।
सब मिलकर कृष्ण-कीर्तन करें।
सब–कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण,
कृष्ण हे!
कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण,
कृष्ण हे!
कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण,
पाहि माम्!
कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, कृष्ण कृष्ण,
त्राहि माम्!
राधिका–(चेतना प्राप्त कर रूप मंजरीकी गोदमें
लेटी हुई चकित नेत्रोंसे सखियोंके प्रति)
कौन हो तुम?
सखियाँ–विधुमुखी!
तेरी ही तो हैं हम सखी-सहचरी।
राधिका–लिये क्यों गोदमें मुझे?
सखियाँ–तू जो हमारी प्राण, राधे!
राधिका–कौन राधे?
सखियाँ–राजनन्दिनी, वृषभानुसुता राधे।
राधिका–तो मैं यहाँ कहाँ?
सखियाँ–उसी बनमें लायीं हम जहाँ।
राधिका–किस कारण?
सखियाँ–करने कृष्णान्वेषण।

राधिका–कहाँ गये प्राणनाथ छोड़कर मुझे ?
सखियाँ–ले गया अक्रूर , याद नहीं तुझे ?
राधिका–क्या कहा सखी ? ! गये प्राणनाथ !
ले गया अक्रूर ,
हमारा तोड़ तन, मरोड़ मन, बेकसूर !
तो ले आयीं क्यों मुझे मौतकी गोदसे ,
सो रही थी जहाँ मैं बड़े सुखसे ?
जीना अब नहीं मुझे , मरना अभीष्ट है ;
जीकर मरनेसे मर कर जीना ही इष्ट है ।
सुनो सखियों !
रहना पास सब अन्तकालमें ,
सुनाना नाम कृष्णका मेरे कानमें ।
जलाना न देह , न बहाना उसे ,
बाँध रखना यत्नसे श्याम - तमालमें ।
आयेगा बन्धु कभी इधर भाग्यसे ,
लगेगी वायु उसकी मेरे गातसे ,
या बजेगी बाँसुरी मधुर कानमें ,
तो आयेंगे प्राण फिरसे मेरे पिंडमें ।
यदि न आये बन्धु , तो जलाना देहको

और करना प्रार्थना विधिसे
कि लेकर देहके तत्त्वोंको
मिला दे उन वस्तुओंसे ,
जो देती रहें सुख कृष्णको
अपनी - अपनी सेवासे—
मिला दे तेजको देहके
श्रीकृष्णके दर्पणमें ,
आकाशको उस आकाशमें ,
जो रहता व्याप्त नन्द-सदनमें ,
व्रजकी बीथिनमें , बनमें , कुञ्जनमें ,
क्षितिको कृष्णके आने-जानेके पथमें ,
जलको कृष्णके बिहारकी बावलीमें ,
वायुको उस शीतल , सुरभित वायुमें ,
जो देती सुख उसे अपने आलिंगनका
ग्रीष्मकी तपनमें ।

यदि न सुने विधि प्रार्थना,
देना जन्म ही हो अभीष्ट उसे,
तो करना उससे याचना
कि दे जन्म बंसीका ,

जो लगकर रहती सदा
उसके अधरोंसे ।
सखी ! जब गया बन्धु
छोड़कर मुझे जहाँ उसका मन ,
तो जाऊँ न क्यों मैं भी
छोड़ अपना तन अपने मन ?
हा कृष्ण !! (पूर्ण मूर्च्छा)

सखियाँ–हाय री सखी ! हाय !
देख राधा जाय !
कमलिनीके मुँदे नयन ,
बिखरे भूषण-बसन ,
करती हा-हुतास , अचेतन
पड़ी प्रतिमा-सी धरासन ;
शीर्ण कलेवर काँपे थर - थर ,
नयन-धारा बहे झर-झर ,
दशनसे दशन टकराय ,
श्वास जैसे रुक-रुक जाय ;
'गोविन्द-गोविन्द' कह न पाय ,
'गो-गो , गो-गो' कहे जाय ।
स्वर्ण-वर्ण हुआ विवर्ण ,

ध्वनि-शून्य हुए कर्ण ,
रोम-कूप वृण-सम ,
वृणसे रुधिर उद्गम !

सखी , प्राण अब जाय , अब जाय !
हाय ! हाय ! कैसे इसे लें बचाय ?
हाय रे ! दारुण विधि !
हरी जो तूने श्याम-निधि ,
झेला हमने वह दुःख
देख राधाका मुख ।
अब मेघ बनकर आया क्या
ले जानेको उसे भी ?

ललिता–कमल-नयन अब खोल किशोरी ।
देख , तुझ बिन पड़ी उजाड़
हरी-भरी तेरी प्रेम-नगरी !

विशाखा–उठ , उठ , किशोरी ;
क्यों रज में पड़ी ?

चित्रा–कह-कह न सखी बन्धुकी कथा ,
सुना जो रही थी अपनी व्यथा ।

रङ्गदेवी–हाय, हाय, सखी ! यह कैसी विडम्बना !

राधा तो बोले न , सुने न , देखे न !
क्या सचमुच यह प्रयाण कर गयी ?
सुखमय व्रजधाम अन्धकार कर गयी !
जान कृष्ण-विरह-सागर-तरी
था जिसका हमने सहारा लिया ,
उसे क्या ढेऊ बहा ले गया ? !

कितनी थी साध हमारे मन—
जब श्याम आयेगा वन ,
तब सजाकर उसे और इसे ,
बिठा एक आसन उन्हें प्रेमसे
जुड़ायेंगी हम दोनों नयन !
साध थी सो थी , वह चूल्हे गयी ,
अंधेकी थी जो लकड़ी एक वह भी लुट गयी !

चित्रा–हाय , विधुमुखी !
न आयेगा , क्या स्मरण अब
तुझे तेरा काला शशि ?
न देखेंगी क्या हम
मुख पद्म पर तेरे हँसी ?
न जायेगी क्या तू

लेकर हमें करने फूल चयन ?
न सजायेंगी क्या हम
सजतन बंसी-बदन ?
न बजेगी मधुर मुरली
तेरा नाम लेकर ?
न करेगी अभिसार क्या
अब हमें लेकर ?
न देखेंगी क्या हम
युगल-माधुरी अनिमेष-नयन ?

ललिता–हाय ! शून्य मन, शून्य बन, शून्य त्रिभुवन !
जैसे रत्न बिन रत्नाकर, राधा बिन व्रजबन
राधाका यदि हुआ शेष ,
तो प्रेमका रहा न लवलेष ,
लुट गया प्रेमका सारा देश ।
विशाखिके ! देख प्यारी रही कि गयी ।

विशाखा–लाकर कमल-तन्तु, लगाया नासिकामें उसे,
देखा कि नहीं निश्वास ,
गये प्राण चले तन से !
न चले निश्वास , न चले नाड़ी !

तो करें कैसे विश्वास कि जी रही प्यारी ?
जब रहा ही नहीं कुछ उसमें ,
तो रहा क्या शेष , जो करना हमें ?
चलो चलें इसे ले साथ अपने
और डूब मरें सब श्याम कुण्डमें ।

चित्रा–हाय रे , विधि ! यह कैसा अभिशाप—
खोई राधा हमने ला बनमें अपने आप !
यदि मर जातीं हम ,
जब श्याम गये थे चले वन से ,
तो देखतीं क्यों हम
उसका मरन अपनी आँख से ।
प्यारीका सुन प्रयाण
श्याम भी न रखेगा प्राण ।
तब जियेंगी क्या हम
देखने दोनोंका मरन ?
रख अपने मन-बीच
दोनोंके चरन ,
त्यागेंगी हम इसी क्षण
अपना तन कर जतन ।

ललिता–हाय ! प्यारी बिन प्राणोंका क्या करूँ ?
ला सखि विशाखे! विष खा के मरूँ । (मूर्छा)
विशाखा–हाय ! श्यामा-श्याम विरह सहूँ
कि जा काली दहमें डूब मरूँ । (मूर्छा)
चित्रा–हाय ! गये न प्राण अभी भी अब तजूं ।
अग्निमें जा अभी जल मरूँ ! (मूर्छा)
चम्पक-लता–मैं कालिन्दीमें कूद पडूं,
पापी प्राणोंका क्या करूँ ?! (मूर्छा)
रङ्गदेवी–मैं जाकर भुजङ्ग धरूं,
या पर्वतसे कूद पडूं । (मूर्छा)
(चन्द्राका आगमन)
चन्द्रा– (सब सखियोंको मूर्च्छित देख आश्चर्यसे)
हाय ! हाय रे बिधि, महाबली !
कनक-पुतली सम प्राण-अलो
पड़ीं धरापर जैसे अधखिली
प्रेम-पुष्पकी सब कलो,
मसली हुई, मैली-कुचली ;
जैसे गज-गंजित कमल-कानन ;
जैसे झंझा-झकोरित रम्भावन,
बिन देखे कृष्णानन !!

हाय ! ये सहज , सरला गोपकुलबाला ,
डस गया इन्हें कृष्ण-काला !
कुटिल कृष्णके प्रेम-पुष्प बनमें
छिपा जो भुजङ्ग था विच्छेदनमें ,
विन देखे उसे गयीं ये बनमें ,
प्रेम-पुष्पके प्रबल प्रलोभनमें ,
डस लिया इन्हें तभी भुजङ्गने !

राधा ! रमणी-शिरोमणि !
महारूपवती, रसवती, कलावती, गुणवती !
जिसकी कोटि-चन्द्र-किरन सम कान्ति !
जिसके रूप-गुणोंको करें चाहना
पार्वती , अरुन्धती !
उसकी देख ऐसी दशा
कौन ऐसी युवती , जो धैर्य धर सकती ?
अब नहीं वह प्रभा मुखकी ,
नहीं वह स्वर्ण-वर्ण ,
नहीं वह कर्ण , जो रहते उत्कर्ण
सुननेको तान मोहन-मुरलीकी !
नहीं वह नेत्र खंजन से ,

जो रहते नाचते सदा
कहीं देख पानेको छटा
मोरपिच्छधारी वनवारीकी ;
नहीं वह चाल अलबेली ,
प्रेम-मद-मत्त , उन्मत्त अभिसारिणीकी ,
प्रिय-मिलन हेतु जाती
पागलनी प्रणयनीकी ,
भेंट लोक-धर्म , कुल-धर्मकी
हियेमें लिये ,
चरण-कमलोंसे अपने
धराको धन्य करते हुए ,
देख जिन चरणोंको चाहतीं हम
बिछा दें धरापर अपने हिये !
हाय ! पड़ी वह अचेतन ,
नेत्र मूंदे ,
न जाने जिये कि न जिये !
(स्वगत) निश्चय ही राधाकी देख यह दशा
सखियाँ हैं हुई अचेतन ।
पूछूंगी इनसे ही इसकी व्यथा
आगे कर इन्हें सचेतन ।

फिर चेतन करनेका इसे करूँगी जतन ।
(प्रत्येकका हाथ पकड़कर उठाना)
उठ, उठ, ललिते ! खोल नयन,
पड़ी क्यों अचेतन ?
उठो रङ्गदेवी, सुदेवी, सब सखीजन;
देखो, राधा पड़ी ऐसी,
जैसे प्राण नहीं तन ।
उठो विशाखे, सुचित्रे, चम्पकलते ?
उठ बैठो न सब, कहो खोलके—
राधा क्यों हुई ऐसी ?
क्यों धरापर हुआ उसका पतन ?
(सबका उठ बैठना)

विशाखा—देख सखी चन्द्रे,
राधाकी नाड़ी है या गयी ।
देख नवजलधर ये कैसी
है इसकी दशा हो गयी !
जान श्यामनटवर उसे जो भागी उधर,
धरापर यूँ पड़ गयी !

ललिता—देख, ये कैसा है रोग सांघातिक ?
सन्निपात है, या अन्तिम सात्विक ?

चन्द्रा–चिंता न कर सखी ।

ललिता–तो बता सखी !बचानेका इसे है कोई उपाय ?

चन्द्रा–सुन सखी ! बताऊँ उपाय—

कह चित्रकारिणीसे
बना दे श्यामका एक चित्रपट ;
लाकर चित्रपट रख इसके निकट ;
कृष्ण-अङ्ग-परिमल , मृगमद-नीलोत्पल
रख आगे नासिकाके ।
तब लिटा गोदमें इसे
कहूँ मैं कानमें इसके
' कृष्ण ! कृष्ण ! ' उच्च स्वरसे ।
तब चैतन्य होगा इसे ,
खोलेगी नयन कृष्ण-नाम सुनकर
और होगी स्थिर
देख चित्रपट में श्यामसुन्दर ।

सखियाँ–सुन्दर , ऐसा ही करें ।

(राधिकाकी नासिकाके आगे सुगन्धित सामाग्री और सामने चित्रपट स्थापन)

चन्द्रा–(राधिकाको गोदमें लेकर)

अरी राधे ! चन्द्रानने !

अरी, मृगनयने !
तनिक खोल न नयन ।
उठ, देख विनोदिनी,
श्याम-मन मोहिनी !
खड़ा तेरे सामने तेरा वंसीवदन !

सब–(उच्च स्वरसे)
जय राधा-वल्लभ ! जय श्यामसुन्दर !

राधिका– (प्रेमविह्वल और व्याकुल भावसे नेत्र खोलकर देखती हुई)
क-क-क-कहाँ वो, न-न-न-नटवर ?!
क-क-क-कहाँ वो, श-श-श्याम नागर ?!
बि-बि-बिन देखे श्रीहरि बिन मौत मरी ।
ओ ललिता ! ओ विशाखा !
ओ चित्रा सखो !
बिन देखे बनवारी मैं मरी, मैं मरी !
मरते-मरते एक बार दिखा न श्रीहरी ।
(चित्रदर्शन कर सखियोंसे)
ओ ललिते ! विशाखिके ! सखी-सहचरी !
देखो-देखो सब, वह खड़ा श्रीहरी !
(चित्ररूपी श्रीकृष्णसे)
यदि आये हो बन्धु कृपा कर
तो आओ न हृदय भीतर ।

रखूं तुम्हें बहुत यत्न कर
नयन दोनों प्रहरी कर,
जिससे आयें यदि कंस-चर,
न ले जा सकें तुम्हें हर।
बैठे रहो बन्धु, सुखसे
मेरे हृदय-पलङ्क पर।
किया करूँ चरण-सेवा
मैं नित्य प्राण भर;
तृषित मेरे नेत्र-भृंग
रीझ-रीझ मुख-कमल पर
बैठे रहें मधुमत्त सदा
मधुर अधर-पटलपर।
(चित्र-मूर्त्ति स्पर्श कर सखियोंके प्रति)
हाय, हाय सखी! यह कैसो विडम्बना!
हुआ जो सुख देखकर इसे,
स्पर्श कर तो हुआ न!
पड़ी प्यासी मरुस्थल में
देखा जो निर्मल जल,
तो भागी उधर, पर पाया न जल;
रह गयी प्यासीकी प्यासी,

तापित , तृषित , विकल ,
प्रेम-मरुस्थल में बिन श्याम-जल !
क्यों किया तुम सबने कपट ?
श्याम कह दिखाया चित्रपट !

चन्द्रा–धैर्य धर राधे ! श्याम-मिलन का
शीघ्र करेंगी उपाय ।

राधिका–सखी ! देख, मुझे दे योगिन सजाय ।
योगिन बनकर जाऊँ मथुरा नगर ;
भिक्षाका छलकर फिरूँ घर-घर ।
कहीं तो मिलेगा श्याम नटवर ।

चन्द्रा–हाय ! वृषभानुदुलारी ! राजकन्या होकर
फिरेगी घर-घर योगिनी बनकर !
मत ऐसे कह सखी हमें दुःख देनेको
जायेंगी हम योगिनी बन श्याम अन्वेषणको ।
तू तो हमारी स्वामिनी , गरबिनी ,
व्रज-रमणियोंमें रमणी-शिरोमणि ;
तू क्यों जायगी मधुपुरी बन योगिनी ?
तू जो गरबिनी श्याम-गरबकी ,
हम हैं गरबिनी तेरे गरबकी ।

तू क्यों मथुरा जा हमारा गर्व हरेगी ?
पहले ही जो मरी हुई श्याम-वियोगमें ,
उन्हें देकर दुःख अपने वियोगका
उनके प्राण हरेगी ? !
राधिके ! धैर्य धर ,
मत क्रन्दन कर ।
बैठी रह राजनन्दिनी , अपने घरमें ।
ढ़ ढूँढ उसे हम लायेंगी ;
आ गिरेगा तेरे चरणोंमें
और कहेगा हाथ जोड़कर ,
पहलेकी तरह विनती कर—
' स्वामिनी ! अपराध क्षमा कर ;
प्राणेश्वरी ! प्राण शीतल कर ;
धर मधुर स्मित अधरोंपर
और सुकोमल चरण-कमल अपने
सेवकके मस्तकपर ।'

राधिका—चतुरा चन्द्रे !
तो जा न शीघ्र मधुपुरी
ले आने को श्रीहरी ।

चन्द्रा–तो ले चन्द्रानने !
लानेको नव - घनश्याम
चलो मैं मथुरा धाम ।
जाकर मथुरामें
ढूढ़ूँगी उसे घर-घरमें ।
जहाँ भी मिलेगा श्याम ,
ले आऊँगी उसे ब्रज-धाम ।
बस जान ले अपने मनमें
कि आ गया वह
और है पड़ा तेरे चरणों में ।

राधिका–तो जा न चन्द्रे ।

चन्द्रा–चली ।

(प्रस्थान और पुन: प्रवेश)

राधिका–सखी, लौट क्यों आयी ?

चन्द्रा–एक बात याद आयी ।
याद है न तुझे भी
बात उस दिन की ,
जब तूने किया था मान
बन्धुने विनतीकी थी ,

चरणोंमें मुकुट रख
दैन्योक्ति बार-बारकी थी ;
लिखा था अपना नाम
तेरे चरण तलपर
और लिख दिया था कुंकुमसे भोजपत्रपर
एक प्रतिज्ञा पत्र इस प्रकार—
" महामहिम , अनन्त गुण निधान ,
करुणा निधान श्रीराधा जू !
मैं , श्यामसुन्दर , साकिन नन्दग्राम ,
जाति ग्वाला , वल्द नन्दराजा
स्वीकार करता हूँ कि मैं
आपके प्रेमका चिर ऋणी हूँ ;
ऋण नहीं चुका पा रहा हूँ ;
अतः आजसे आपका कृतदास हूँ ;
आपकी आज्ञा पालन करनेको
बिना ना-नुकर किये सदा बाध्य हूँ ।
यह लिखे दे रहा हूँ स्वेच्छा से ,
बिना किसी जोर-दबावके
स्वस्थ मस्तिष्कसे ,
जिससे समय पर काम आय ।

इसे प्रतिज्ञा-पत्र समझा जाय।"
साक्षी–रूपमंजरी, हस्ताक्षर–श्यामसुन्दर,
समयमध्याह्न, स्थान विलासकुंज-अभ्यन्तर।

है न वह प्रतिज्ञा-पत्र तेरे पास ?
ले जाऊँगी उसे मैं अपने साथ।

राधिका–क्या करेगी उसे ले जाकर ?

चन्द्रा–पहले तो कहूँगी उससे
समझा कर, विनती कर।
यदि करेगा अनसुनी मेरी
तो कहूँगी जोर कर
और ले आऊँगी बाँधकर उसे।
यदि कहेंगे लोग मुझसे
बांधे क्यों राजाको मथुराके ?
तो कहूँगी दिखा प्रतिज्ञा-पत्र—
राजा है तो क्या मथुराका ;
बांध रही जिसकी आज्ञासे ,
है कृतदास उन महामहिम सरकार का।
उनकी विमल कीर्तिका
यत्र , तत्र , सर्वत्र विस्तार है ,

उनका प्रेमियोंके हृदय-क्षेत्रपर
एकछत्र अधिकार है !

राधिका–तो ले वह प्रतिज्ञा-पत्र । (पत्र अर्पण)
(चन्द्राका हाथ पकड़कर)
सखी चन्द्रे !
सुन मेरी एक प्रार्थना—
न बांधना कर-कमल ,
न करना भर्त्सना ।
हाय ! कैसे कहूँ सखी—
करते ही यह कल्पना
होती हृदयमें दारुण जो वेदना !

चन्द्रा–यदि न बाँधू कर-कमल ,
न करूँ भर्त्सना ,
तो क्या पड़ूं चरन उसके
और करूँ बन्दना ?

राधिका–नहीं , नहीं , चन्द्रे !
छि , छि , बन्दना !
न करना बन्दना,
न करना भर्त्सना ।
चतुराईसे वियोगिनी गोपियोंका
चित्र उसपर आँकना ।

फिर आये , न आये ,
यह उसी पर छोड़ना ।

चन्द्रा–तो बता न तू ही
कि उससे क्या कहूँ मैं ।

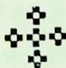
राधा–पूछना पहले उससे
कि वह है तो कुशलसे ।
फिर कहना धीरेसे
कि हैं हम भी सुखसे ,
पर याद उसकी आती बहुत है ,
रहता यही एक हमें दुःख है ।
यदि आ सके तो आ जाय वह अब ।
आनेसे होगा सुख अपार हमें ।
न आया अब भी तो आयेगा फिर कब ?
न आनेसे होगा दुःख अपार हमें ।
पर आनेसे हो क्षति तनिक भी ,
तो आये न लौटकर यहाँ कभी भी ।
भेजता रहे समाचार अपनी कुशलका
रहेगा सुखसे तो पायेंगी सुख हम भी ।

चन्द्रा–तो मैं जाऊँ अब ।
शीघ्र पहुँच जाऊँगी ,

अवसर जैसा देखूँगी ,
वैसा करके आऊँगी ।

(चन्द्राका यात्राके लिए प्रस्थान—
प्रस्थान करते समय कात्यायनी-स्तव)

योगेश्वरी! जगदीश्वरी! योगमाये! जगदम्बे!
तुम्हारी जय हो , जय हो , जय हो अम्बे !
कृपा कर कृपामयी , देवी भगवती !
लाऊँ कृष्णको शीघ्र , फेर उसकी मति ।



मथुरा नगर

राजपथ

(कलसी कक्षमें लिए नागरीगणका गाते-गाते प्रवेश)

चलोरी , चलोरी , चलोरी,
सब नागरी ले गागरी ,
जल जमुनाका भर लायें ।
जल भरनेका छल करके
घूँघटा दे आड़ नयनसे
दर्शन हरिके कर आयें ।।

१म नागरी- (दूरसे चन्द्राको आते देख दूसरी नागरीसे)
देख , देख नागरी ! वह युवती ,
जो इधर आ रही है ,
थकी - थकी सी , लुटी - लुटी सी ,
पर रूपमें पार्वती सी !
कौन है वह रूपसी ?!
आकाशका अकलंक शशि है ,
या देवलोककी उर्वशी ,
जो आयी है मधुपुरी !!

२य नागरी–कौन हो तुम सती ?
क्या है तुम्हारा नाम ?
कहाँ है बसति !
आयी यहाँ किस कारण ?
सधवा हो या विधवा ,
या हो हतबान्धवा ?
देख तुम्हारे सजल नयन ,
तुम्हारा चंचल मन , चंचल गमन
लगता जैसे हो तुम
दग्ध बनमें हिरनी अधन्या ;
पर देख तुम्हारा रूप लावण्य
लगता जैसे हो राजकन्या ।

चन्द्रा–प्रेम-कङ्गालिनो नाम ।
नहीं ग्राम, नहीं धाम ।
बनमें ही होता रहना ।
नहीं सधवा , नहीं विधवा
नहीं हतबान्धवा, अधवा हूँ ।
नहों रानी, नहीं राजकन्या ,
राजकन्याकी दासी हूँ ;
उस राज कन्याको ,

जिसके रूपको तुलना नहीं है,
जिसके गुणोंसे त्रिभुवन जयी है ,
पर जिसे एक व्याधि हो गयी है।
उस व्याधिकी औषधि यहीं है ।
आनेका यहाँ कारण यही है ।

१म नागरी--(२य नागरीके प्रति)
हाय मरी! ऐसी रूपवती जिसकी दासी,
ना जाने वह राजकन्या होगी कैसी ?

२य नागरी--(चन्द्राके प्रति)
अरी सुरूपे! तूने जो अधवा की बात कही,
सो हमने तो कभी सुनी नहीं ।
अधवा होती कैसी , बता तो सही ।

चन्द्रा--चिर-प्रवास रहते पति जिस नारीके,
वह होती अधवा, फूटे भाग उस नारीके ।

३य नागरी—तू जो चाहती औषधि, वह है किसके पास?

चन्द्रा—जो हैं नये भूपति मथुराके, उनके पास।

३य नागरी—हमारे महाराज तो नहीं कविराज ।
उनके पास औषधिका क्या काज ?

चन्द्रा—कविराज नहीं तुम्हारे महाराज यदि,
तो कैसे पीठ कुब्जाकी सीधीकी !

१म नागरी–(३ य नागरीके प्रति)
अरी हाँ, ठीक तो कहती है।
(चन्द्राके प्रति)
तू जा उन्हींके पास।

चन्द्रा–तो बता सखी, कहाँ मिलेंगे वे?
कैसे जाना होता उनके पास?

१ नागरी–राजभवनमें मिलेंगे वे।
जाना नहीं सामनेके सप्तद्वारसे;
उधर होंगे द्वारिक द्वार-द्वार पर,
जाने कभी न देंगे वे।
जाना अन्तःपुरके द्वारसे,
जहाँ लक्ष-लक्ष दासी करतीं यातायात
चली जाना बेखटके उनके साथ।

चन्द्रा–तो जाऊँ।

(प्रस्थान)

राज भवन

(सिंहासन पर श्रीकृष्ण आसीन—
चन्द्राका प्रवेश)

चन्द्रा–(स्वगत) सामने ही तो कृष्ण विराजमान है ;
सभासद कोई नहीं है।
पर सहसा सम्मुख जाना ठीक नहीं है।
पहले मनका भाव जान लूँ ,
उच्च स्वरसे राधाका नाम लूँ।
देखूँ भाव उद्वेलित होता है या नहीं।
(उच्च स्वरसे) जय राधे ! जय राधे !
जय राधे ! श्रीराधे !

कृष्ण–(चमककर सिंहासनसे उतर चारोंओर देखते हुए)
अहा ! कहांसे फूटा यह मधुर स्वर ,
जैसे आकाशसे अमृतका निर्झर ?
सुन सुधामुखीका सुधामय नाम ,
जैसे हुए शीतल मरुस्थलमें मेरे प्राण।
हाय ! असीम रसयुक्त
' राधा ' नामके दो वर्ण !

पर पी सकते कितना रस
मेरे केवल दो कर्ण !

चन्द्रा–(स्वगत) ठीक है ,
आशाकी फूटी किरण है ;
स्पष्ट संकेत है
कि राधाके चरणारविन्दसे
मधुसूदन अभी भी रहा लिपट ,
तो अब विलम्ब क्यों करूँ ,
झट जाऊँ निकट ।

(कृष्णके निकट गमन)

कृष्ण–योगिनी !
क्या नाम है ? कहाँ रहती हो ?
किस कारण यहाँ आयी हो ?

चन्द्रा–महाराज !
काश दे सकती यथोचित अपना परिचय,
याद कुछ भी नहीं आता इस समय ।
न जाने कौन हूँ मैं , क्या है नाम ,
कहाँसे आयी हूँ , क्या है काम ।
आते ही यहाँ सब कुछ भूल गयी हूँ ।
जान केवल यह रही हूँ कि यहाँ खड़ी हूँ ।

ग्रायेगा कुछ देरमें याद यदि कुछ ,
तो कहूँगी आपसे खोलकर सब कुछ ।
पर मैं योगिनी, कङ्गालिनी, ग्राप महाराज,
आयेगा आपके परिचय मेरा किस काज ?

कृष्ण–यहाँ आ सब भूल गयी हो—
यह तुम क्या कह रही हो ?!
क्या यह संभव है कभी—
एक स्थानसे दूसरेको जाय ,
नाम-ग्राम सब भूल जाय ?

चन्द्रा–संभव तो नहीं महाराज ।
पर मथुराकी है कुछ ऐसी ही बात ,
यहाँ आकर भूल जाती पहलेकी बात ।

कृष्ण–अच्छा योगिनी !
जाने भी दे यह बात ।
पूछूँ एक और बात !

चन्द्रा–पूछिये महाराज ।

कृष्ण–तू जो रटती रहती राधा का नाम ,
बता पाया कहाँ यह रसमय नाम ?

चन्द्रा–सुनिये महाराज !
राधा नाम है मन्त्र-राज ।

गुरुने दिया यह मन्त्र।
पाकर इसे हुई स्वतन्त्र।
जी चाहे सो करती रहती,
पर मन्त्र सदा जपती रहती।
जहाँ-तहाँ फिरती रहती,
रसमें इसे छकी रहती।

कृष्ण–योगिनी ! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ,
तुम्हारी सेवा करनेको उत्सुक हूँ।
जी चाहे सो माँग लो,
बताओ तुम्हें क्या दे दूँ ? दूँ

चन्द्रा–क्या देंगे महाराज,
और कितना ?

कृष्ण–रजत, कांचन, मणि-मुक्ता,
जितना चाहो उतना।

चन्द्र–न रजत, ना कांचन,
न और कुछ धन,
यदि प्रसन्न हैं आप,
तो करूँ कुछ निवेदन ?

कृष्ण–कहो जो भी कहना है ,
संकोच क्या करना है ?
चन्द्रा–एक है हमारी यूथेश्वरी ।
किया उसने बहुत जतन
श्रौर किया क्रय
एक बहुमूल्य रतन
देकर जो भी था उसके पास—
अपना तन , अपना मन , अपना धन ।
बड़े चावसे धारण करती वह
अपने वक्षपर उसे ,
दूर न होने देती एक पल भी
कभी अपने नेत्रोंसे ।
क्रूर एक कंसचर जाकर
ले आया उसे लूटकर
रत्न बिन वह हुई उन्मादिनी ,
जैसे हो जाता नाग
खोकर अपनी मणि ।

सुना है हमने बहुत बार ,
लुट जाती रमणी जो इस प्रकार ,

उसके लिये रहता खुला यह दरबार।
क्या आप करेंगे विचार
और दिला देंगे उस दुखियाको
उसकी मणि, उसके गलेका हार ?

कृष्ण–क्यों नहीं ?
यदि है प्रमाण उपयुक्त,
तो जायगा पकड़ा अभियुक्त।

चन्द्रा–प्रमाण ? प्रमाण अनेक हैं,
अप्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्ष हैं।
पर प्रमाण यदि हों यथेष्ट,
तो निश्चित है न यदुश्रेष्ठ
कि परिणाम भी होगा श्रेष्ठ—
पा लेगी न रमणी अपनी मणि ?

कृष्ण–क्यों नहीं ?

चन्द्रा–तो सुनिये महाराज।
जिसने लूटा सर्वस्व उस रमणीका,
वह है नामी चोर एक जनम का।
पहले करता चोरी छोटी-छोटी
माखन और मिसरी की;
फिर करने लगा चोरी मणि-माणिक्योंकी।

वह तो रमणी भोली-भाली ;
उसे बहला-फुसलाकर ,
मीठी-मीठी बातें कर ,
उससे गुप्त धनका कर्ज लिया ।
ऋण न चुका सकने पर
अपने-आप को बंधक रख
एक कागज लिख दिया
और हस्ताक्षर कर दिया ।
फिर विश्वासघात कर
आया यहाँ भाग कर ।
वह है अभी यहीं ,
और कहीं दूर नहीं ,
इसी स्थान पर ।
कागज है मेरे पास ,
साक्षी सब जीवित हैं , मरे नहीं ।
अब बतायें सो करूँ उपाय ,
जिससे धनी अपना धन पाय ।
कृष्ण–सुलोचने ! उसका सब कुछ बेचकर
ऋण परिशोध कर ले ।

चन्द्रा–पर उसका सब कुछ बेचकर भी
ऋण परिशोध न हो तब ?

कृष्ण–तब मैं आज्ञा देता हूँ—
बाँधकर उसके हाथ
ले जा अपने साथ ।

चन्द्रा–जो आज्ञा महाराज !
पर वह हो यदि
राजपरिवारका कोई ?

कृष्ण–अबोधिनी ! राजाज्ञा बलवती है ।
राज परिवारका क्या,
स्वयं राजा भी हो
तो है बँधना उसे ,
राजाकी आज्ञा जो है ।

चन्द्रा–जय हो, जय हो महाराजकी !
महाराजके सुविचारकी !
व्यवस्था करती हूँ महाराज
कागज और अभियुक्त दोनोंको
अभी प्रस्तुत करने की ।
आप व्यवस्था करें

अभियुक्तको बाँधकर
मेरे साथ पहुँचा देने की ।
परन्तु महाराज ! एक बात पूछूँ ?

कृष्ण–पूछो ।

चन्द्रा–राधा-नाम सुनकर क्यों
आये अश्रु आपके अपने-आप ?
कौन है राधा ? कहाँ रहती है वह ?
बतायेंगे क्या आप ?

कृष्ण–सुन योगिनी !
एक है बन वृन्दावन ,
जिससे है त्रिलोकी धन्य ।
वृन्दावनमें गोपी अनेक ,
उनमें है राधा गोपी एक ।
उसीने हरा मेरा मन ।
वही है मेरा जीवन,
मेरे जीवनका जीवन ।
केवलउसके ही कारन
रहते प्राण मेरे तन ।
उसके सम्बन्धसे ही और गोपियाँ जितनी,
मेरी सखी, सहाय, दासी, स्वामिनी ।

चन्द्रा–अनुपम है आपकी प्रीति !
पर जब कहनी की यह रीत ,
तो करनी क्यों विपरीत ?

कृष्ण–(स्वगत)कहीं यह कोई व्रजगोपी तो नहीं है?
बातें तो कुछ ऐसी ही अटपटी कर रही है!
मुखरे ! तुम बात-बातमें व्यंग्य कर रही हो!
कुछ पहचानी-सी लग रही हो ।
पर पहचानमें आ नहीं रही हो ।

चन्द्रा–ठीक ही तो है महाराज ।
जब सूर्य सन्ध्यासे आलिङ्गित होता है,
तब पहचान उषाको कब पाता है ?
सन्ध्या काली हो या कूबरी
उषासे तो अच्छी है ।
पहचानका भी तो समय होता है, महाराज!
कभी आता है , कभी जाता है ।
कालकी गति कुटिल है ;

काल और कालेमें अन्तर ही क्या है ?
यदि कुछ है तो यही
कि काले का 'ल' बड़ा है ।

काला इसलिए अधिक जटिल है ;
उषा जितनी सरल है ,
काला उतना कुटिल है ।
पहचानका समय अब आ रहा है ।
देखिये , यह प्रतिज्ञा-पत्र आपका है ?
(पत्र हाथमें देती है)

कृष्ण—(पत्र देखकर चन्द्राकी ओर ध्यानसे देखते हुए)
तो तुम चतुरा चन्द्रा हो ?!
वृन्दावनसे आयी हो ?!
तभी ऐसी बातें कर रही हो ।
बोलो, बोलो, चन्द्रे !
कैसा है हमारा वृन्दावन ?
सुखी तो हैं सब जन ?
कैसे हैं बाबा नन्द ?
कैसी माँ यशोमती,
मूर्ति वात्सल्य स्नेहकी ?
कैसे हैं सब सखागण,
जिनके साथ करता गोचारण ?
कैसी हैं प्रिय गोपियाँ,
मधुर रसकी मूर्त्तियाँ ?

और कैसी श्रीराधिका ,
सर्वाधिका , प्राणाधिका ?

चन्द्रा–सुनें , कपटी महाराज !
रहने भी दें यह कपट-प्रेम ;
करेंगे क्या पूछकर कुशल-क्षेम ?
व्रजके जन हैं सुखसे या दुःखसे ,
करना क्या है अब तुम्हें उनसे ?
तुम्हारी तो कट रही सुखसे आज,
पाकर मुफ्त मथुराका राज ।

पूछते बात व्रज बालाओंकी
न आती लाज तुम्हें नेक भी ।
भेद पैने शरसे हिरनीको
पूछता क्या व्याध कभी
बात उसके कुशल-क्षेम की ?

बात उन सरला ललनाओं की ,
ठगी गयी दुखिया बालाओं की
है क्या कुछ कहने सुनने की ?
कहूँ भी मैं , तो है क्या
सामर्थ्य तुम्हें समझने की ?

जिसके पैर न आये बिवाई ,
वह क्या जाने पीर पराई ?
तुम्हें भी किसीने छला होता ,
करके प्रीति तजा होता ,
तब न जानते तुम
कि कैसा होता है
प्रेमीका प्रेमीसे ठगा जाना ;
कैसा होता है उसका जीना—
वियोगमें घुल-घुलकर मरना ;
प्रेमकी पैनी छुरीका निरतन्र
बिन दीखे उसपर चलना ;
उसका भीतर-भीतर रोना,
बाहर आह न भरना !

याद आयी थी तुम्हें कभी
स्वप्नमें भी उन दुखियाओं की ?
पूछ रहे आज उनके कुशल-क्षेम की ?

बिन सोचे-समझे प्रेम करके ,
बिन जाने तुम्हें पतिया करके

गोपियोंका ही तो सब गया है—
कुल गया है, मान गया है,
रूप-लावण्य गया है,
प्राण भी जानेको है।
गया तुम्हारा क्या है ?
विषय और बढ़ गया है।
पहले थे केवल गाय-बछड़े,
अब हैं कितने हाथी-घोड़े;
पहले बैठते कुशासनपर,
अब विराजते सिंहासनपर;
पहले था गोपवेश—
माथे धरना मोर-मुकुट,
कटिमें कछनी कासनी;
अब है राजाका वेश—
पहनना जरीका जामा-जोड़ा,
पगड़ी टेढ़ी बाँधनी।

कृष्ण–चन्द्रे ! वंचना करो न,
कहो न बात व्रजकी,
व्रजके सब जनकी,
और [illegible] करो न।

चन्द्रा–तो सुनिये महाराज !
जो है वृन्दावनकी दशा आज ।

जो था कभी सुन्दर, सुरम्य सुख-धाम,
अब हो रहा दारुण दुख-धाम ;
जानेका जहाँसे नाम न लेता वसन्त,
वहाँ अब पतझड़का न होता कभी अन्त ।
दिनमणि दिनभर प्रलयङ्कर आग उगलताहै;
वायु सर्प-सा सूं-सूं करता चलता है !

कालिन्दीमें जल नहीं,
अश्रुधार बहती है ;
लहर-लहर उसकी
पुलिनपर सर पटकती है !

अब नहीं वहाँ नव-बधू भी
सुमन शृङ्गार करती है,
मल्लिका सदा सुमन-अश्रु
टप-टप टपकाया करती है !

अब नहीं कोकिलकी काकिली वहाँ
नहीं पपीहाकी 'पी-कहाँ'

बात काकके सन्देशकी
नित्य देखी जाती है ।

गोष्ठ में गइयें निकर
बिन सुने बंसीका रव
रह-रहकर रम्भाती रहती हैं ।
जाती नहीं बनको वे,
अश्रु बहाती रहती हैं !

नाचते नहीं मोरोंके झुण्ड ,
भार पंखोंका ढोते रहते हैं ।
ग्वाल-बाल पिच्छ देख
हिचकियाँ भर-भर रोते हैं !

नन्द हुए अन्ध सम,
यशुमती फूट-फूटकर रोती हैं !
'हाय ! कहाँ मेरा नीलमणि !'
कह भू-पर लुण्ठित होती हैं !

गोपियोंकी क्या कहूँ ,
कैसे जीवित रहती हैं,

राधा-मुख देख-देख
अश्रु बहाती रहती हैं !
(स्वयं रोने लगती हैं)

कृष्ण–रो मत चन्द्रे !
कह न राधाकी बात ;
कहते-कहते उसकी बात
रुक क्यों गयी हठात् ?

चन्द्रा–क्या कहूँ महाराज !
तुम क्या समझ सकोगे उसकी बात ?
चाहते यदि तुम व्यथा उसकी जानना
और जानना उसके प्रेमका यथार्थ मर्म,
तो सुनो जो करनी होगी साधना
और साधनाके आवश्यक सब कर्म ।

पहले कर नारायणका स्मरण
करना राधाके अश्रुसरमें अवगाहन ।
फिर करना राधा-पद-धूलिका
नखसे सिर तक अवलेपन ।
लगाना तिलक राधाकुण्डकी मिट्टीका
और बैठना पद्मासनसे ध्यान लगाकर ;

करना ध्यान प्रेमकी अधिष्ठात्री देवीका।
फिर हृदयकुण्डमें प्रेमाग्नि प्रज्ज्वलितकर
समर्पण करना उसमें अपना सारा कालापन।

कृपा तब होगी प्रेमकी देवीकी
और होगी प्राप्ति उस भाव-कान्तिकी,
जो कालेसे गोरा कर वह आधार देगी,
जिससे राधाके अगम्य
प्रेम-मर्मकी अनुभूति होगी।

यदि करने नहीं यह सब कर्म,
तो पूछो मत राधाको
उस व्यथाका मर्म ;
तो जान न कभी सकोगे
स्थिति उसकी भीतरसे,
जान भले ही लो उसे
यत्किंचित बाहरसे।

कृष्ण—चन्द्रे ! ठीक वह सभी है,
जो तुम कह रही हो ;
कहकर कुछ भी तो
नहीं अत्योक्ति कर रही हो

बात राधा प्रेमकी
मैंने कब जानी है ?
प्रेमकी प्रतियोगितामें
हार उससे मानी है ।

पर, लोभसे उस प्रेमके
उद्विग्न हूँ मैं;
पानेको उसे सदासे
बेचैन हूँ मैं ।
प्रेम राधाका परमपद है ।

पानेको उस परम पदको
ऐसी कौन-सी साधना है ,
जिसे करना नहीं उचित है ?
कौन-सा पुरुषार्थ है ,
जो उससे नहीं तिरस्कृत है ?

करूँगा निश्चय ही साधना ,
जिससे हो पूर्ण मनोकामना ।
पर उस साधनाका
समय अभी नहीं है ।
कहो न फिर बात प्रियाकी ,

उसके भीतरकी या बाहरकी,
जैसी भी सम्भव है।

चन्द्रा–देख उसकी बाह्य दशा भी
समझ नहीं कुछ आता है;
कहते सब अपनी-अपनी,
पर रोना सभीको आता है।
विद्युत-छटा-सी रूपसी
अब बुझते दीपक-सी लगती है;
हाव-भाव और बात-चीतमें
वह विधुमुखी खोई-खोई-सी,
पागलनी-सी लगती है।
पहचान अपनी भी
उसे अब नहीं रही है!
पूछती सखियोंसे है—
कौन है राधा?
कहाँसे आयी है?
किसकी जायी है?
देख निज नखोंको
भान होता उसे है
कि हैं ये चांदके टुकड़े,

जो भूपर आ गिरा है ।
उन्हें झाड़ देनेको
हिलाती हाथ जब है ,
तो सुनाई उसे पड़ती
झंकार कङ्कनकी ।
लगती उसे वह है
गुंजार भौरोंकी ।

तब स्फूर्ति मधुसूदनकी
तत्काल उसे होती ;
कभी हँसती , कभी गाती ,
कभी बिलख-बिलख रोती ।
रोते-रोते उसे जब
मूर्छा आ जाती है ,
रहता नहीं ज्ञान कुछ भी ,
श्वास बन्द हो जाती है ।

छोड़ जिस दशामें
आयी हूँ उसे अब ,
पता नहीं कि जी रही है ,
या नहीं जी रही है ।

यदि जी रही है,
तो बचा लो मरनेसे उसे जाकर
मुखचन्द्र अपना दिखाकर।

कृष्ण—हा, राधे! प्राणेश्वरी!

(कृष्णका मूर्छित होना)

चन्द्रा—(कृष्णको गोदमें लेकर सचेत करनेकी चेष्टा करते हुए)
उठो, महाराज!
चलो, चलें राधाके पास।

कृष्ण—(चेतना प्राप्त कर)
सखी चन्द्रे!
तुम जाओ वृन्दावन।
जाकर दो राधाको आश्वासन।
मैं भी आया त्वरा कर,
कार्य यहाँका शेष कर।

चन्द्रा—तो मैं चली महाराज।

(चन्द्राका प्रस्थान)

निकुंज-वन

(निकुंजमें सखियों सहित राधा)

(चन्द्रा दूतीका प्रवेश)

राधिका–(चन्द्राको देख उदास भावसे)
चन्द्रे ! आये नहीं प्राणनाथ ?

चन्द्रा–धैर्य धर विनोदिनी
आयेंगे अभी तेरे गुणमणि ।

राधिका–(प्रसन्न होकर)
क्या सचमुच आयेंगे ?
कब आयेंगे ?

चन्द्रा–शीघ्र ही आयेंगे ।

राधिका–प्रसन्न तो हैं वे चन्द्रे ?

चन्द्रा–प्रसन्न हैं या नहीं ,
अपने आपमें हैं ,
या खोये हुए कहीं—
कहना कठिन है ।
कार्य तो करते सभी ,
जो करना उचित है ,

पर सुनते ही नाम तेरा
होती क्या दशा उनकी,
बताना नहीं संभव है ?

राधिका–फिर कह चन्द्रे,
क्या सच है बन्धुके आनेकी बात ?
कब होगा आगमनका उसके शुभ प्रभात ?
(कुछ रुककर विशाखासे)
सखी, देख बाहर जाकर
कोई बंसी बजा रहा है,
बंसीमें नाम लेकर
मुझे बुला रहा है;
लगता है बन्धु आ रहा है !

विशाखा–(बाहर देखकर लौट आती है)
कहाँ ? कोई तो नहीं है।
जिसे बंधु जान रही है,
वह तो विरही हंस है;
जिसे बंसी मान रही है,
वह तो हँसनीको हंसकी पुकार है।

राधिका–नहीं विशाखे !
उसके धीरे-धीरे आनेका

पदोंके भारसे पत्तोंके मरमरानेका ,
स्पष्ट शब्द हो रहा है ।
जा देख , वह सचमुच आ रहा है ।

विशाखा–नहीं , नहीं , मुग्धे !
वह तो पवन है ,
जो पल्लवोंसे खेल रहा है ।

(कुञ्ज द्वारपर राधिकाको कृष्णकी विस्फूर्ति होना)

राधिका–(कृष्णको देख कर)
सखी ! देख कौन है कुञ्ज द्वारपर ?!
अभी-अभी झाँककर देखा इधर !
नवीन मेघ था , या श्याम गिरिधर ?!
विद्युत-छटा थी , या पीताम्बर ?!
इन्द्र-धनुष था ,
या मोरपङ्ख चूणापर ?!
हाय ! क्या वह छलिया
आया और चला गया ?!

(राधाकी मूर्च्छा)

पौर्णमासीकी पर्णकुटी

(पौर्णमासी और वृन्दा)

वृन्दा–देवी ! चन्द्रा लौट आयी है,
शुभ संवाद लायी है—
कृष्णने शीघ्र आनेकी कही है।
पर कृष्णका विश्वास नहीं है,
वे आयेंगे, क्या यह सही है ?

पौर्णमासी–दन्तवक्र-बधके पश्चात्
आना सम्भव अवश्य है।
पर आने-जानेका उनके
रहस्य कुछ और है।

वृन्दा–क्या रहस्य है देवी ?!

पौर्णमासी–रहस्य यह है
कि छोड़कर वृन्दावन
कृष्ण जाता कहीं नहीं है;
रहता सदा यहीं है।

वृन्दा–यदि रहता सदा यहीं है,
तो दीखता क्यों नहीं है ?

पौर्णमासी–वृन्दावनका एक और भी प्रकाश है ,
जो अप्रकट है ।
प्रकटसे अप्रकट प्रकाशमें ,
अप्रकटसे प्रकट प्रकाशमें ,
होता उसका आना-जाना है ;
और न कहींसे आना है ,
न कहींको जाना है ।

वृन्दा–तो क्या अक्रूरका यहाँ आना ,
कृष्णको लेकर मथुरा जाना ,
सब भ्रम है ?

पौर्णमासी–भ्रम है , पर नहीं भी है ।

वृन्दा–सो कैसे ?

पौर्णमासी–कृष्ण गये मथुरा
एक रूपसे—सत्य है ;
पर गये स्वयंरूपसे—
यह असत्य है ।
मथुरा गये वासुदेव रूपसे ,
जिसका है क्षत्रिय-वेश , क्षत्रिय-अभिमान ,
रह गये स्वयंरूपसे ,
जिसका है गोपवेश , गोप-अभिमान ।

वासुदेव रूपसे करते वे
असुरोंका संहार, भक्तोंका परित्राण ;
करते स्वयंरूपसे
प्रेमरसका आस्वादन अविराम।
स्वयंरूप है द्विभुज, मुरलीधर ;
वासुदेव रूप है चतुर्भज —
शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधर।
नरलीलामें चतुर्भुज द्विभुज होता है,
द्विभुज सदा द्विभुज ही रहता है।
चतुर्भज जब मथुरा जाता है,
द्विभुज अन्तर्धान हो जाता है।

इस प्रकार भूमण्डलपर प्रकट प्रकाशमें
द्विभुजका कभी रहता अवस्थान,
तो कभी होता अन्तर्धान ;
पर अप्रकट प्रकाशमें वह
सदा ही रहता वर्तमान।

वृन्दा—अतर्धान क्यों होते श्रीकृष्ण
बिन मौत मार देनेको
डुबा-डुबाकर अपार दुःख-सागरमें

माता-पिता और गुरुजनोंको ,
ग्वाल-बाल और गोपियोंको ?

पौर्णमासी—उद्देश्य नहीं अन्तर्धानका
सुहृदोंको दुःख देना ;
उद्देश्य है वियोगकी शिलापर
उत्कण्ठाको रगड़कर
उसपर धार धरना ,
उत्कण्ठाको तीव्रकर
संयोग-सुखको उन्नत करना ।

प्रेमके अप्राकृत जगत्में
दुःखका हुआ जन्म ही कब है ?
प्रेम त्रिगुणातीत है ,
दुःख त्रिगुणमय है ।
प्रेम अपने-आपमें
परम-आनन्दमय है ।

प्रेमियोंके वियोगका
प्रेम ही तो उपादान है ;
इसलिये वियोगमें भी उनके
रहता सुख ही वर्त्तमान है ।

वह तो प्राकृत जगत्का प्रेम है,
जिसमें संयोगमें सुखका,
वियोगमें दुःखका
होता सदा भान है।

वियोग अप्राकृत् जगत्में
प्रेमका निचोड़ता सार है,
प्रेमाम्बुधिके मन्थनमें
वह पर्वत मन्दार है।

वृन्दा–देवी ! यह कैसा सिद्धान्त है ?!
वियोगमें माने दुःख, सो भ्रान्त है ?
राधाको प्यारेके दीर्घ प्रवास में,
या उसके अन्तर्धान में,
होता जो असहनीय दुःख है,
वह दुःख नहीं, परम सुख है !—
यह कोरो विडम्बना है,
सिद्धान्त नहीं, कल्पना है।

प्यारेके होते पास भी
जिसे होता अतिशय दुःखदायी
पलकोंके पड़ जानेपर भी

प्यारेका न दीखना एक पल ,
वह कैसे सह सकती भला
उसके अन्तर्धानका,
उसके दीर्घ विछोहका
प्रलय जैसा दुःख प्रबल ?

देख उसका रोना-धोना ,
पल-पल पर मूर्च्छा जाना ,
कौन है ऐसी नारी ,
जिसका न जाता हृदय पिघल ?
किसकी है ऐसी छाती ,
जो न टूक-टूक हो जाती ?

पौर्णमासी–दुर्गम , दुर्ज्ञेय है गति
राधाके प्रेमकी ।
है कौन ऐसा महारथी ,
जिसने थाह इसकी ली ?
चक्कर खा जाती मति
बड़े-बड़े मतिमंतकी ।

सुनी क्या कभी किसीने
संयोग और वियोगकी ,

विप्रलम्भ और संभोगकी
युगपत सहज स्थिति ?
पर राधाके प्रेमकी
है ऐसी ही अगम्य गति ।

राधा और कृष्ण दो नहीं,
एक प्राण दो तन हैं,
जैसे एक ही नालमें
खिले दो कमल हैं ।
प्राण उनका प्रेम है,
प्रेम और प्राणमें नहीं कुछ भेद है ।
प्रेमकी उष्मा गलाकर दोनोंको
करती एक है ।

पर एक होकर भी
वे रहते सदा पृथक् हैं,
जैसे लौह-खण्ड अग्निमें
अग्नि होकर भी रहता लौह है ।
ज्ञानका तो नहीं,
यह प्रेमका अद्वैत है ।

प्रेममें अद्वैतके गर्भमें
रहता सदा द्वैत है ।
प्रेमका यह अचिंत्य ,
अनिर्वाच्य द्वैता-द्वैत है ।

जैसा अचिंत्य , अनिर्वाच्य
राधा-कृष्णका तत्त्व है ,
वैसा ही अचिंत्य , अनिर्वाच्य
दोनोंका प्रेम है ।

वियोगमें राधाको
होती कृष्णकी विस्फूर्ति ;
बाहर होती विरहको हा-हुतास ,
भीतर होती मिलनकी मधुर अनुभूति ।
संयोगमें होता कृष्णका
साक्षात् दर्शन निश्चय है ,
पर वियोगमें विश्वका
दीखता कण-कण कृष्णमय है ।
संभोग और विप्रलम्भमें
विप्रलम्भ श्रेष्ठतर है ।

संयोगमें तनका तनसे
ही होता मिलन है ;
विप्रलम्भमें
मनका मनसे ,
प्राणका प्राणसे
होता सम्यक् सम्मिलन है ;
विप्रलम्भमें संभोग पूर्णतम है !

विप्रलम्भका हा-हुतास ,
जो दुःख-सा दीखता है ,
दुःख नहीं सुख है ,
जो पराकाष्टा प्राप्त कर
शिखरसे चीखता है !
राधाके मादनाख्य महाभावमें,
संयोग और वियोगके अपूर्व सम्मिलनमें
होता वैसा ही कुछ है ,
होता जैसा है विषामृत एकत्र मिलनमें ,
या तप्त इक्षुके चर्वनमें ।

वृन्दा–जो भी हो देवी !
चलूं अब निकुञ्ज-बन ;
जाकर दूं राधाको
जैसा कुछ हो आश्वासन ।

निकुंज-बन

राधा और सखियाँ

(राधा मूर्च्छित अवस्थामें, सखियाँ परिचर्यामें ।)
(श्रीकृष्णका आगमन । राधाको मूर्च्छित देख उसे गोदमें लेकर विषण्ण मुद्रामें बैठ जाना ।)

ललिता– (राधाके प्रति)

उठ, उठ, कमलिनी !
देख, आया दिनमणि !
मिलनकी आयी शुभ घड़ी ;
विरहकी निशा जा दूर खड़ी ;
रहा न अब कुछ भी त्रास ,
प्राण बन्धु तेरा तेरे पास ।

उठ देख , जो खोया था तेरा नीलमणी ,
जिसके कारण हो गयी थी पागलनी ,
क्या यह वही है ?
यदि वही है ,
तो रख सम्हाल कर इसे
हृदयकी तिजोरीमें ;

निकल न जाय फिर हाथसे
प्रेमिकाओंकी छीना-जोरीमें ।
उठ , देख न चन्द्रमुखी !
चकोर तेरा ध्यानस्थ है ;
देख , देख , दशा तेरी
कैसा संत्रस्त है !
देखा न उसे संत्रस्त ऐसा
पहले हमने कभी भी !
उठ , देख नेत्र अपने खोलकर ;
सदय नेत्रोंसे उसे देखकर
शीतल कर हृदयको उसके
और अपने भी ।

(कृष्णके प्रति)

देखते ही रहोगे क्या उसे
निर्निमेष तसबीरसे
और बहाते रहोगे अश्रु यूँ ही
अनवरत कमल-नयनसे ?
कहो न बात प्यारको
कुछ कानमें धीरेसे ।
पड़ेगी जब कानमें उसके

बाणी तुम्हारी सुधा सी ,
तो उठ बैठेगी तुरत ,
सो कर जैसे जागी सी ।

कृष्ण–(रूँधे कण्ठसे) रा-रा-राधे !
प्र-प-प्राणे-श्-श्-श्वरी !

(राधाका चमक कर आँख खोलना । श्रीकृष्णको ध्यानसे देखकर उनसे लिपट जाना । श्रीकृष्णका भी उसे बाँहोंमें भर लेना । दोनोंका एक अनिर्वचनीय भाव-समाधिमें खो जाना ।)

विशाखा–आ हा ! मरी ललिते !
देख जुगलका मधुर मिलन !
देखकर मिलन धन्य कर नयन ।
मिले दोनोंके तनसे तन ,
मनसे मन , नयनसे नयन ,
हियेसे हिया , बदनसे बदन ।
हाय री ! कैसा सुन्दर मिलन !
देख , दोनोंके नेत्रोंसे
अश्रु-निर्झर बह रहा है ,
जैसे दोनोंके हृदय-कुण्डसे
जल-प्रपात हो रहा है !

देह दोनोंके रह-रहकर
विकम्पित ऐसे हो रहे हैं,
जैसे कदलीके वृक्ष दो
झंझावातसे जूझ रहे हैं!
स्वेद-बिन्दु दोनोंके मुखपर
शोभित ऐसे हो रहे हैं,
जैसे दो कमलों पर
चमकीले मोती बिखर रहे हैं!
आनन्दके उद्रेकसे बीच-बीचमें
कल-नाद भी दोनों कर रहे हैं!

ललिता–(विशाखासे)
अब देख, दोनोंको
स्तम्भने कैसा कर दिया!
जैसे किसी शिल्पीने
एक ही शिलामें
दो सुन्दर मूर्त्तियोंको
गढ़कर रख दिया!
दोनों संज्ञाहीन हैं,
जैसे प्रेमकी दो पुतलियाँ
प्रेम-सागरमें विलीन हैं!

(स्वगत) अरे ! मुझे यह क्या हो रहा है ?!
देख-देख इन दोनोंको
क्या भाव इनका संक्रमित हो रहा है ?!
संज्ञा मेरी भी जैसे लुप्त हो रही है,
लहर अपूर्व आनन्दकी खेल हृदयमें रही है ?
धिक-धिक आनन्द !
यह जुगलकी सेवाकी घड़ी है,
इस घड़ीमें तुझे अपनी पड़ी है !
(विशाखासे) विशाखे ! तू भी ऐसी ही हो रही है !
देख, सम्हाल अपने-आपको ;
सम्हाल कर अपनेको
सम्हाल प्यारे और प्यारीको ।
बाढ़ महाभावकी आयी हुई है !!

विशाखा–सखी, चेत हो दोनोंको
ऐसा कुछ उपाय करें ।

ललिता–आओ, दोनोंको घेरकर
दोनोंके नामका कीर्त्तन करें ।

सब सखियाँ–जय राधे, जय राधे, राधे ।
जय राधे, जय श्रीराधे ॥

जय कृष्ण, जय कृष्ण, कृष्ण।
जय कृष्ण, जय श्रीकृष्ण ॥

(राधा और कृष्ण दोनोंको चेतना होना। राधाका भौंचक्की हो सबको ऐसे देखना, जैसे वह अभी कोई स्वप्न देख रही थी और लज्जासे सर नीचा कर, आँचलसे मुख ढकते हुए कृष्णसे अलग जा खड़े होना।)

ललिता–(कृष्णसे) बहुत दिनोंमें आये हो बन्धु,
डूब चला था हमारे भाग्यका इन्दु।
विलम्ब करते यदि और तनिक भी
तो देखते न व्रजमें गोपी एक भी।

सहा जो हमने दुःख अभी तक
वह इसलिये कि अबला थीं;
होतीं पाषाण यदि
तो सह न सकतीं कभी भी।

हम पर बीती सो बीती बन्धु,
तुम तो रहे कुशलसे,
राज-प्रासादके विभिन्न प्रकारके
आमोद-प्रमोदमें सुखसे?

गोपिकाएँ नहीं सुख-दुःख
कुछ जानतीं ;
तुम्हारे सुखको ही अपना सुख
दुःखको अपना दुःख मानतीं ।

पर तुमने आकर मधुपुरीसे
ली होती सुधि हमारी कभी भी ,
तो जानतीं हम कि रहती तुम्हें है
चिंता कुछ हमारी भी ।

विशाखा–अरी पगली ! जानती नहीं
कि कितनी दूर है मधुपुरी !

चम्पकलता–अरी ! दोष वृथा क्यों दे रही बन्धुको ?
भेजा तो था उसने उद्धव बावरेको
सुधि हमारी लेनेको
और हमारे घावों पर
ज्ञानका नमक छिड़कनेको ।

कृष्ण–गोपिकाओं ! मत व्यंग्य कर लज्जित करो ।
यह सब विधिकी विडम्बना थी ,
न कोई मेरी योजना थी ।
विधि हमारे भाग्यसे

स्वच्छन्द खेल रहा था ,
मैं विवश हो देख भर रहा था ।

चित्रा–विधि तो खेलता तकदीर से ,
खेलते तुम हो अबोध अबलाओंके
प्राणोंकी पीरसे ।
विधि रुलाता हमें है ,
तो हँसाता भी है कभी ;
तुम्हें मिलता सुख है
केवल रुलानेमें ही ।
बड़े विधिनासे भी
तुम खिलाड़ी हो ,
पर प्रेमके खेलमें
निपट अनाड़ी हो ।

चन्द्रा–दोष विधिनाका नहीं कुछ है ,
रहनेका मधुपुरीमें रहस्य और है ।
मथुराकी महिषियाँ सब
षोड़सी , सुन्दरी , सुकुमारी हैं ,
सब कलाओंमें प्रवीणा
सुशिक्षिता , राजकुमारी हैं ।

हम कन्या पशुपालकोंकी
अशिक्षिता , ग्वालिनी , गँवारी हैं ।

धतूरेके फूलोंपर
भौंरे गूँजते तभी तक हैं ,
जब तक फूल मालतीके
खिलते नहीं हैं ।
ग्वालिनी हैं तो क्या ,
समझती हम सब हैं ।

ललिता–सुनो सखी - सहचरियों !
छोड़ो पिछली सब बातोंको ;
मिलनकी इस शुभ घड़ीमें
आनन्द उत्स उभरने दो ;
कोकिलको गीत गाने दो ;
भ्रमरोंको तान भरने दो ;
पवन सुगन्धित बहने दो ;
चाँद गगन पर आने दो ।
(कृष्णसे) आओ हे प्राणबन्धु !
खड़े हो दाहिने राधाके ।

जुड़ायें हम नयन अपने
दर्शन कर दोनोंके।
(राधा-कृष्ण जुगल मिलन)
(सखियोंका सहगान)
अहा ! देखो, देखो री,
सब सखी सहचरी।
नव निकुञ्ज बीच आज
मव जुगल माधुरी ॥
कदम्ब तले त्रिभंग-ठाम
ठाड़्यो गिरिधारी।
बाँयें अंग सोहे शुभंग
राधा सुकुमारी ॥
जैसे तमाल तनु लिपट रही
नवीन बल्लरी।
जैसे नव जलधर बीच
जड़ रही थिर बिजरी ॥
सुन्दर लटकन चूड़ाकी
बेणी हेरि-हेरि।
सुन्दर कोमल बाहनकी
संदर फेरा-फेरी ॥

मधुर मिलन , मधुर निकुञ्ज ,
मधुर वृन्दावन ।
मधुर-मधुर हास्य
मधुर जुगल अधरन ।।
मधुर-मधुर करत गान ,
मधुर शुक-सारी ।
मधुर कुञ्ज घेर-घेर
नाचत मयूर-मयूरी ।।



श्रीकृष्ण - सन्देश

[आध्यात्मिक मासिक पत्र]

श्रीकृष्ण-सन्देशका वर्ष जनवरीसे प्रारम्भ होता है।
श्रीकृष्ण-सन्देश प्रतिमास सुरुचिपूर्ण पाठ्य-सामग्री देता है।
श्रीकृष्ण-सन्देशमें श्री 'चक्र' द्वारा लिखित 'श्रीकृष्णचरित' प्रति अङ्क १६ पृष्ठ और उन्हीं द्वारा लिखित 'श्रीरामचरित' प्रति अङ्क ३२ पृष्ठ जा रहा है।

वार्षिक शुल्क— १० रुपया।
आजीवन शुल्क— १५१ रुपया।
सम्भव हो तो आजीवन ग्राहक बनें।

व्यवस्थापक—श्रीकृष्ण-सन्देश
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंस्थान, मथुरा-२८१००१

यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्यपर उपलब्ध किये गये कागजपर मुद्रित-प्रकाशित है।